अर्पण

परम कृपालु पूज्य
आत्मार्थी सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के
पुनीत कर कमल में

जिनके उत्कृष्ट अमृतमय उपदेश को प्राप्त कर इस पामर ने अपने अज्ञान अधकार को दूर करने का यथार्थ मार्ग प्राप्त किया है ऐसे महान महान उपकारी सत् धर्म प्रवर्तक पूज्य श्री कानजी स्वामी के कर कमल मे अत्यत आदर एव भक्तिपूर्वक यह पुस्तिका अर्पण करता हूं और भावना करता हूं कि आपके वताये मार्ग पर निश्चलरूप से चलकर नि श्रेयस दशा को प्राप्त करू ।

विनम्र सेवक—
मीठालाल सेठी
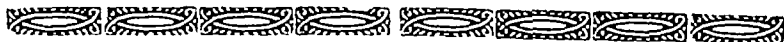
सेठी ग्रन्थमाला के प्रकाशन

१ नियमसारजी शास्त्र		५—५०
२ पंचास्तिकाय शास्त्र		४—५०
३ छहढाला	दूसरी आवृत्ति	०—८१
४ जैन सिद्धान्त प्रश्नोत्तरमाला प्रथमभाग	चतुर्थावृत्ति	०—६२
५ ,, ,, द्वितीय भाग	,,	०—६२
६ ,, ,, तृतीय भाग	,,	०—६२
७ अपूर्व अवसर	दूसरी आवृत्ति	०—८५
८ आत्मप्रसिद्धि समयसारजी शास्त्र में से ४७ नयों के ऊपर पू० कानजी स्वामीके विस्तृत प्रवचन पृ० सं० ५००		४—०
९ अष्टपाहुड भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यकृत पं० जयचंद्रजीकृत देशभाषावचनिका आधुनिक हिन्दी—प्रेसमें		

सत्पुरुष श्री कानजी स्वामीके आध्यात्मिक वचनोंका अपूर्व लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का

अवश्य स्वाध्याय करें

पुस्तक	मूल्य
समयसार-मूल-टीका-अनु०	५-०
प्रवचनसार ,, ,, ,,	४-०
नियमसार ,, ,, ,,	४-५०
पचास्तिकाय-मूल टीका-अनु०	४-५०
मूल में भूल	०-५०
मुक्तिका मार्ग	०-५०
पंचमेरु आदि पूजा संग्रह	०-७५
समयसार प्रवचन भाग १ मू० ४-७५ भाग २	५-२०
मोक्षमार्ग प्रकाशक की किरणें भाग १ १-०० भाग २	२-०
जैन सिद्धान्त प्रश्नोत्तर माला भाग १ भाग २ भाग ३ प्रत्येक	०-६२
दसलक्षणव्रत उद्यापन विधान	०-७५
आत्म प्रसिद्धि	छप रहा है
जैन बाल पोथी	०-२५
ज्ञान स्वभाव-ज्ञेय स्वभाव	२-५०
सम्यग्दर्शन	१-६२
छहढाला-नयी आवृत्ति बडी टीका	०-८१
जैन तीर्थ पूजा पाठ सग्रह यात्राकी जानकारी सहित सजिल्द	१-५०
भेदविज्ञानसार	२-०
अध्यात्म पाठ सग्रह	३-०
निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध क्या है	०-१५
दशलक्षण धर्म	०-५३
लघु जैन सिद्धान्त प्रवेशिका	०-२५
आत्मधर्म मासिक वार्षिक मूल्य	३-०
,, की फाइलें वर्ष १-३-५-६-७-८-१०-आदि प्रत्येक	३-७५
शासन प्रभाव	०-१२
मोक्षशास्त्र ६०० पेज जिसमें शुद्ध तत्त्वज्ञानकी निधि है	५-०
अनुभव प्रकाश	०-४०
जैन तत्त्वमीमासा	१-०
सन्मति विशेषाक	१-०

शास्त्रों का अर्थ करने की पद्धति

व्यवहारनय स्वद्रव्य-परद्रव्यको तथा उनके भावोंको तथा कारण-कार्यादिकको किसीके किसीमें मिलाकर निरूपण करता है, और ऐसे ही श्रद्धानसे मिथ्यात्व है, इसलिये इसका त्याग करना चाहिये। और निश्चयनय उन्हीं का यथावत् निरूपण करता है तथा किसीको किसीमें नहीं मिलाता, और ऐसे ही श्रद्धानसे सम्यक्त्व होता है, इसलिये उसका श्रद्धान करना चाहिये।

प्रश्नः—यदि ऐसा है तो जिनमार्गमें दोनों नयोंका ग्रहण करना कहा है, उसका क्या कारण?

उत्तरः—जिनमार्गमें कहीं तो निश्चयनयकी मुख्यता सहित व्याख्यान है, उसे तो "सत्यार्थ ऐसा ही है"—ऐसा जानना, तथा कहीं व्यवहारनयकी मुख्यतासे व्याख्यान है उसे "ऐसा नहीं है किन्तु निमित्तादिकी अपेक्षासे यह उपचार किया है"—ऐसा जानना, और *इसप्रकार जाननेका नाम ही दोनों नयोंका ग्रहण है। किन्तु दोनों नयों* के व्याख्यानको समान सत्यार्थ जानकर "इस अनुसार भी है और इस अनुसार भी है"—ऐसे भ्रमरूप प्रवर्तनसे तो दोनों नयोंको ग्रहण करना नहीं कहा है।

प्रश्नः—यदि व्यवहारनय असत्यार्थ है तो जिनमार्गमें उसका उपदेश किसलिये दिया गया? एक निश्चयका ही निरूपण करना था?

उत्तरः—ऐसा ही तर्क श्री समयसारमें किया है। वहाँ यह उत्तर दिया है कि—जिसप्रकार किसी अनार्य-म्लेच्छको म्लेच्छभाषा बिना अर्थग्रहण करानेके लिए कोई समर्थ नहीं है, उसीप्रकार व्यवहारके बिना परमार्थका उपदेश असम्भव है, इसलिये व्यवहारका उपदेश है। और उसी सूत्रकी व्याख्यामें ऐसा कहा है कि—इसप्रकार निश्चयको अंगीकार करानेके लिये व्यवहार द्वारा उपदेश देते हैं, किन्तु व्यवहारनय है वह अंगीकार करने योग्य नहीं है।

(—श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक)

गुजराती संस्करण की
प्रस्तावना

सुप्रसिद्ध जैन तत्ववेत्ता परमपूज्य समयज्ञ श्रीमद्‌रायचन्द्रजी ने सं० १९५२ के मंगसर माह में अपनी जन्म भूमि ववाणिया में 'अपूर्व अवसर' नामक काव्य की रचना की थी। वे वीतराग के महान उपासक और आत्म ज्ञानी थे। उनको बाल्यावस्था में ही जातिस्मरण ज्ञान हुआ था। उनकी निवृत्ति की तीव्र अभिलाषा थी, निवृत्तिकी भावना इस काव्यमें बहुत सुन्दर और प्रभावक रीति से व्यक्त की गई है।

यह काव्य जैन समाज व अन्य धर्मानुयायियों में भी बहुत प्रसिद्ध है, प्रिय है और अनेक स्थानों पर प्रार्थना रूपमें पढा जाता है।

श्रीमद्‌ने यह भावना अपने निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट होने के बाद भायी थी, इससे ऐसा समझना चाहिये कि धर्म का प्रारम्भ निश्चय सम्यग्दर्शन होने पर ही होता है। निश्चय सम्यग्दर्शन पूर्वक ही सच्चा चारित्र हो सकता है यह सिद्धात इस काव्यमें स्पष्ट रूपमें प्रतिपादित किया है।

श्रीमद्‌ने सर्वज्ञ वीतराग कथित द्रव्य और भाव साधुत्व प्रकट कर केवलज्ञान प्राप्ति की तीव्र पुरुषार्थ की भावना की है और उस दशा को शीघ्र प्रकट करने के लिये वे अत्यन्त उत्सुक थे, यह इस काव्यसे ज्ञात होता है। इस काव्यकी नवमी गाथामें द्रव्यलिंगी और भावलिंगी साधु के स्वरूपका वर्णन सुन्दर रीति से किया गया है तथा उपसर्ग के आनेपर ज्ञानीकी कैसी दशा होती है यह भी इसमें बताया है।

इस काव्यमें गंभीर तत्त्वका रहस्य सन्निहित किया गया है। विक्रम सं० १९९५ में राजकोट के चातुर्मासमें परम पूज्य श्री कानजी स्वामीने महान उपकार किया उसमें से इस काव्य पर उन्होंने प्रवचन किये। इन प्रवचनों में इस काव्य पर गूढ़ रहस्य अति सरल सुन्दर और स्पष्ट भाषामें प्रकट किया है। इससे मुमुक्षुओंको बहुत लाभ हुआ। बहनें, युवा और वृद्ध सब किसीके समझने योग्य इन प्रवचनों से सब कोई लाभ लें ऐसा मेरा अनुरोध है।

श्री वंशीधरजी शास्त्री M. A. (कलकत्ता) ने इस पुस्तकका अनुवाद खास प्रेमपूर्वक भेंट किया है, आपको इस साहित्यका इतना प्रेम है कि आपने वीरवाणी में इसका १७ पद्य तक का प्रवचन छपवाया है और पुस्तक रूपमें छपवाय-अच्छा प्रचार हो ऐसी प्रेरणा की है, आपका आभार मानता हूँ।

इस पुस्तककी गुजरातीमें दूसरी आवृत्ति समाप्त होने पर अनेक मुमुक्षुओं की मांग पर तीसरी आवृत्ति प्रकाशित की गई है। वसन्त भ० गुलाबचन्द भाई ने योग्य शुद्धि की है। फिर भी कोई गल्ती हो तो पाठक सुधार लें। अन्त में इस पुस्तकको शांत चित्त से पढ़ने की जिज्ञासुओं से प्रार्थना करते हुए मैं लेखनी को विराम देता हूँ।

वीर सं० २४८७	रामजी माणकचन्द दोशी
वि० सं० २०१७	प्रमुख-श्री दि. जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
दशलक्षणी पर्व	सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

परमपद प्राप्तिकी भावना

(अंतर्गत)

गुणश्रेणीस्वरूप

—ॐ—

अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ?
क्यारे थइशुं, बाह्यांतर निर्ग्रन्थ जो ?
सर्व सम्बन्धनुं बंधन तीक्ष्ण छेदीने,
विचरशुं कव महत्पुरुषने पंथ जो ॥ अपूर्व० ॥१॥
सर्व भावथी औदासीन्य वृत्ति करी,
मात्र देह ते संयमहेतु होय जो;
अन्य कारणे अन्य कशुं कल्पे नहीं,
देहे पण किंचित् मूर्छा नव जोय जो ॥अपूर्व०॥२॥
दर्शनमोह व्यतीत थई उपज्यो बोध जे,
देह भिन्न केवल चैतन्यनुं ज्ञान जो;
तेथी प्रक्षीण चारितमोह विलोकिये,
वर्त्ते एवुं शुद्ध स्वरूपनुं ध्यान जो ॥अपूर्व०॥३॥
आत्मस्थिरता त्रण संक्षिप्त योगनी,
मुख्यपणे तो वर्त्ते देह पर्यंत जो;

घोर परिषह के उपसर्ग भये करी,
आवी शके नहीं ते स्थिरतानो अंत जो ।अपूर्व०।४।

सयमना हेतुथी योग प्रवर्तना,
स्वरूप लक्षे जिन आज्ञा आधीन जो;
ते पण क्षण क्षण घटती जाती स्थितिमां,
अंते थाये निजस्वरूपमां लीन जो ।अपूर्व० ।।५।।

पंच विषयमां रागद्वेष विरहितता,
पंच प्रमादे न मळे मननो क्षोभ जो;
द्रव्य, क्षेत्र ने काल, भाव प्रतिबंधवण,
विचरवु उदयाधीन पण वीतलोभ जो ।अपूर्व०।।६।।

क्रोध प्रत्ये तो वर्ते क्रोध स्वभावता,
मान प्रत्ये तो दीनपणानु मान जो;
माया प्रत्ये साक्षी माया भावनी,
लोभ प्रत्ये नहीं लोभ समान जो ।अपूर्व० ।।७।।

बहु उपसर्ग-कर्त्ता प्रत्ये पण क्रोध नहीं,
वंदे चक्रि तथापि न मळे मान जो;
देह जाय पण माया थाय न रोममां,
लोभ नहीं जो प्रबळ सिद्धि निदान जो ।अपूर्व०।।८।।

नग्न भाव मुंडभाव सह अस्नानता,
अदंत धोवन आदि परम प्रसिद्ध जो;

केश रोम नख के अंगे शृंगार नहीं,
द्रव्य-भाव संयममय निग्रंथ सिद्ध जो ।अपूर्व० ।९।

शत्रु मित्र प्रत्ये वर्त्ते समदर्शिता,
मान अमाने वर्त्ते ते ज स्वभाव जो;
जीवित के मरणे नहीं न्यूनाधिकता,
भव मोक्षे पण शुद्ध वर्त्ते समभाव जो ।अपूर्व० ।१०।

एकाकी विचरतो वली स्मशानमां,
वली पर्वतमां वाघ सिंह संयोग जो;
अडोल आसन ने मनने नहीं क्षोभता,
परम मित्रनो जाणे पाम्या योग जो ।अपूर्व०।११।

घोर तपश्चर्यामां पण मनने ताप नहीं,
सरस अन्ने नहीं मनने प्रसन्न भाव जो;
रजकण के ऋद्धि वैमानिक देवनी,
सर्वे मान्या पुद्गल एक स्वभाव जो ।अपूर्व०।१२।

एम पराजय करीने चारितमोहनो,
आव्युं त्यां ज्यां करण अपूर्व भाव जो;
श्रेणी क्षपकतणी करीने आरूढ़ता,
अनन्य चिंतन अतिशय शुद्ध स्वभाव जो ।अपूर्व०।१३।

मोह स्वयंभूरमण समुद्र तरी करी,
स्थिति त्यां ज्यां क्षीणमोह गुणस्थान जो;

घोर परिषह के उपसर्ग भये करी,
आवी शके नहीं ते स्थिरतानो अंत जो ।अपूर्व०।४।

संयमना हेतुथी योग प्रवर्तना,
स्वरूप लक्षे जिन आज्ञा आधीन जो;
ते पण क्षण क्षण घटती जाती स्थितिमां,
अंते थाये निजस्वरूपमां लीन जो ।अपूर्व० ॥५॥

पंच विषयमां रागद्वेष विरहितता,
पंच प्रमादे न मळे मननो क्षोभ जो;
द्रव्य, क्षेत्र ने काळ, भाव प्रतिबंधवण,
विचरवु उदयाधीन पण वीतलोभ जो ।अपूर्व०॥६॥

क्रोध प्रत्ये तो वर्ते क्रोध स्वभावता,
मान प्रत्ये तो दीनपणानु मान जो;
माया प्रत्ये साक्षी माया भावनी,
लोभ प्रत्ये नहीं लोभ समान जो ।अपूर्व० ॥७॥

बहु उपसर्ग-कर्त्ता प्रत्ये पण क्रोध नहीं,
वंदे चक्रि तथापि न मळे मान जो;
देह जाय पण माया थाय न रोममां,
लोभ नहीं छो प्रबळ सिद्धि निदान जो ।अपूर्व०॥८॥

नग्न भाव मुंडभाव सह अस्नानता,
अदंत धोवन आदि परम प्रसिद्ध जो;

मादि अनंत अनंत समाधि सुखमां,
अनंत दर्शन ज्ञान अनंत सहित जो ।अपूर्व०।१९।

जे पद श्री सर्वज्ञे दीठुं ज्ञानमां,
कही शक्या नहीं पण ते श्री भगवान जो;
तेह स्वरूपने अन्यवाणी ते शुं कहे ?
अनुभव गोचर मात्र रह्युं ते ज्ञान जो ।अपूर्व०।२०।

एह परमपद प्राप्तिनुं कर्युं ध्यान में,
गजा वगर ने हाल मनोरथ रूप जो;
तो पण निश्चय राजचंद्र मनने रह्यो,
प्रभु आज्ञाए थाशुं ते ज स्वरूप जो ।अपूर्व०।२१।

प्रार्थनामृत

आत्म भ्रान्ति सम रोग नहिं, सद्गुरु वैद्य सुजान;
गुरु आज्ञा-सम पथ्य नहीं, औषध विचार ध्यान,

✿ ✿ ✿

उपजे मोह विकल्प से, समस्त यह संसार;
अन्तर्मुख अवलोकते, विलय होत तत्काल,

✿ ✿ ✿

वचनामृत वीतराग के, परमशांत रस मूल;
औषध जो भवरोगके, कायर को प्रतिकूल,

✿ ✿ ✿

शुद्ध, बुद्ध, चैतन्यघन, स्वयं ज्योति सुखधाम;
दूसरा कहना कितना ? कर विचार तो पाम,
आत्मा सत् चैतन्य मय, सर्वाभास रहित;
जिससे केवल पाइये, मोक्ष पंथ वे रीत,

★

गुणस्थानक क्रमारोहण परमपद प्राप्तिकी भावना

श्रीमद् रायचंद्र प्रणीत

अपूर्व अवसर

पर

श्री कानजी स्वामीके प्रवचन

इस काव्यमें मुख्यतया परमपद (मोक्ष) की प्राप्तिकी भावना व्यक्त की गई है। आत्मा त्रिकाल ज्ञाता दृष्टा स्वरूप अनन्त गुणोंका पिण्ड है, उसका अनुभव करनेके लिये सर्वज्ञ वीतरागकी आज्ञानुसार तत्त्वार्थोंकी निश्चय श्रद्धा कर, ज्ञानानन्द स्वभावकी तरफ प्रवृत्त होनेका पुरुषार्थ बढ़नेसे क्रमशः शुद्धताकी वृद्धि होती है। इस अपेक्षासे जीवकी अवस्था में १४ गुणस्थान होते हैं। उनमेंसे चौथे गुणस्थानसे विकासकी श्रेणी प्रारम्भ होती है।

श्रीमद् रायचन्दजी ने अपनी जन्मभूमि, ववाणिया (सौराष्ट्र) में प्रातःकाल अपनी मातुश्रीकी शय्या पर बैठकर इस 'अपूर्व अवसर' नामक काव्यकी रचना की थी।

जैसे महल के ऊपर चढ़नेके लिये सीढ़ियाँ होती हैं वैसे ही मोक्षरूपी महलमें जानेके लिये १४ सीढ़ियाँ हैं। उनमेंसे प्रथम सम्यग्दर्शनरूप चौथे गुणस्थानसे मंगलमय प्रारम्भ करते हैं। आत्मस्वरूपकी जागृतिकी वृद्धिके लिये यह भावना है।

अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ?
क्यारे थइशु बाह्यांतर निर्ग्रन्थ जो ?
सर्व संबंधनु बंधन तीक्ष्ण छेदीने ?
विचरशुँ कव महत्पुरुषने पंथ जो ? अपूर्व०॥१॥

गृहस्थ धर्मात्मा आत्माकी प्रतीति सहित पूर्णताका लक्ष्य रखते हुए इन तीन प्रकारके मनोरथ (भावना) भाता है। (१) मैं सब सम्बन्धों से छूटूं (२) स्त्री आदि बाह्य परिग्रह तथा कषायरूप अभ्यंतर परिग्रहका पुरुषार्थ द्वारा त्याग कर निर्ग्रन्थ मुनि होऊँ और (३) मैं अपूर्व समाधिमरण प्राप्त करूँ। किन्तु संसारी मोही जीव यह मनोरथ-भावना भाता है कि मैं गृहस्थ कुटुम्बकी वृद्धि करूँ, धन घर, पुत्र परिवारकी वृद्धि हो और हरा भरा खेत (भरा पूरा परिवार) छोड़कर मरूँ; यह विपरीत भावना ही संसारी जीव भाता है।

"अपूर्व अवसर" का अर्थ बाह्य अपूर्व काल नहीं है किन्तु इसका अर्थ आत्मद्रव्यमें अपूर्व स्वकाल होता है, वह शुद्ध स्वभाव की परिणति है। प्रत्येक वस्तु स्वचतुष्टययुक्त है, स्वाधीन है। वह स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभावरूप है, वह नित्य टिककर परिणमती है। पहले आत्मा अज्ञान भावमें रागादि परभाववाला होकर पररूप अपनेको मानता हुआ परिणमन करता था किन्तु जबसे

यथार्थ सत्समागम द्वारा शुद्धात्माकी अतरग प्रतीति अत्यन्त पुरुपार्थ-से की तवसे स्वभावमें परिणमन हुआ। वह परिणमन ही इस आत्माकी शुद्ध अवस्थाका काल है, वह 'स्वकाल' कहलाता है। आत्म-ज्ञान द्वारा स्वभावका भान रहता है किन्तु अभी पूर्ण शुद्ध पर्याय प्रकट नहीं हुई, उसे पूर्ण करनेके लिए स्वरूपके भान सहित यह भावना है।

इस 'अपूर्व' में अनेक अर्थ गर्भित हैं, इसलिए इस 'अपूर्व' मगलीकसे भावनाका प्रारम्भ किया जाता है। पहले अनुत्पन्न अपूर्व (स्वभाव-काल) कैसे आएगा ? साधक इस मनोरथको साधता है। मनोरथ होनेमें मन तो निमित्त है किन्तु ज्ञान द्वारा उसको अस्वीकार कर साधक जीव स्वरूप चिंतनकी जागृतिका उद्योत करता है। स्वरूपकी भावनाका (मनोरथका) प्रवाह चलता है, उसके साथ स्वभाव परिणतिका प्रवाहभी चलता है। उस भावनाके साथ मन-का निमित्त है तथा रागका अश है उससे विचारका क्रम होता है और उसमें लोकोत्तर पुण्यका बध सहज ही हो जाता है, किन्तु प्रारम्भसे ही उसकी अस्वीकारता है। उसे भेदों और विकल्पोंका आदर नहीं है किन्तु अतीन्द्रिय भावमनोरथका स्वरूप चिंतवन है। तत्त्वस्वरूपकी भावना विचारते हुए अपने मनका निमित्त आता है। पूर्ण शुद्धात्म स्वरूप सिद्ध परमात्मा जैसा है ऐसा अपना स्वरूप लक्ष्य-में रखकर पूर्णताके लक्ष्यसे श्रीमद् आत्मस्वरूपकी भावना करते हैं। ऐसी यथार्थ निर्ग्रन्थ दशा, स्वरूप स्थितिका अपूर्व अवसर कब होगा, ऐसी अपने स्वभावकी भावना है।

"मैं कब अतरग एवं बहिरगसे निर्ग्रन्थ होऊँगा अर्थात्

अभ्यंतर राग द्वेषकी प्रंथिसे और बाह्यसे (स्त्री धनादि तथा कुटुम्बसे) निवृत्त होऊँ यह भावना भाता है। वह वीतराग दशा धन्य है। वह निर्ग्रन्थ मुनिपद धन्य है। वह पूर्ण दिगम्बर सर्वोत्कृष्ट साधक दशा धन्य है।

"सर्व सम्बन्धोंका तीक्ष्ण बन्धन छेदकर" शारीरिक, मानसिक तथा द्रव्यकर्मोंका सम्बन्ध (मोह) छोड़कर मुनि दशा प्रगट करूँ। आत्मा अबन्ध स्वरूप है, उसके ज्ञानकी स्थिरताका सूक्ष्म रीतिसे ज्ञान कर मैं भेद ज्ञान द्वारा कर्मोदयकी सूक्ष्म ग्रंथिको नष्ट करूँ ऐसी यह भावना है। आत्मस्वरूपके भान द्वारा रागरहित ज्ञानमें स्थिरता होते ही अनादि संतानरूप संसारवृक्षका मूल—रागद्वेषकी गांठ छिन्नभिन्न होकर नष्ट हो जाती है।

"महान् पुरुषोंके मार्गमें कब विचरूँगा" संसारमें स्वच्छंदी लड़का इच्छा करता है कि कब मेरा पिता मरे और मैं सब अधिकार और कारबार कब्जेमें करूँ ? उससे विपरीत इस लोकोत्तर मार्गका साधक जीव यह भावना भाता है कि अतीन्द्रिय ज्ञान-दर्शन-चारित्र स्वरूप मोक्षमार्गमें प्रवर्तनेके लिए तीर्थंकर भगवान कब मिले और कोई महान् बुद्धिमान निर्ग्रन्थ जिस पंथमें, आत्मस्वरूपमें विचरे उस पंथमें मैं वीतराग कुलकी टेक-मर्यादानुसार कब विचरूँगा ? यह सनातन शाश्वत आत्मधर्मका सद्भूत व्यवहार है। अनन्त ज्ञानी पुरुषोंने जिस पंथमें विचरण कर मोक्ष पदको प्राप्त किया, उस ही पंथमें मैं कब विचरूँगा ? इस भावनामें अनन्त ज्ञानी भगवन्तोंके प्रति विनय व्यक्त किया गया है और साधकको अपनी पवित्र अवस्था

का भी ज्ञान है क्योंकि असीमित सामर्थ्यवाले ज्ञानकी पहचान हुई है किन्तु अभी प्रकट नहीं हुआ है ऐसा वह जानता है। यह पुराण पुरुष (सत्पुरुष)की आराधना है, इसमें कितनी निर्मलता है। अपने आत्मधर्मका विकाश हुआ है इसलिये साधक अनन्त ज्ञानका बहुमान करता है, वह परमार्थका आदर है।

श्रीमद् रायचन्द्र सम्यग्दर्शनको नमस्कार करते हुए कहते हैं कि हे कुन्दकुन्दादि आचार्यो। आपके वचन, स्वरूपकी खोजमें इस पामरको परम उपकारक हुए हैं इसलिए मैं आपको अतिशय भक्तिसे नमस्कार करता हूँ। हे वीतराग जिन! आपके अनतानत उपकार हैं। यह गुणका बहुमान सत्कार, विनय किया है, उसमें परमार्थसे अपने गुणोंका आदर है। श्रीमद्‌ने एक डेढ पंक्तिके चरणमें लिखा है कि कुन्दकुन्दाचार्य आत्मस्वरूपमें बहुत दृढतासे स्थित थे।

"विचरशुँ कव महत्पुरुष ने पथ जो" उनमें प्रथम अरिहन्त प्रभु सर्वज्ञ देव हैं वे प्रथम महत्पुरुष हैं तथा दूसरे महत्पुरुष आचार्य साधुवर्य मुनिवर हैं। ससारकी जाति पाँति छोडकर सन्तों मुनिवरों-की चैतन्य जाति साधक अवस्थामें (आत्मस्थ स्थितिमें) रहना ही है, इसलिए साधक धर्मात्मा यही भावना भाता है कि इन महामुनियों-के मार्गमें कब विचरूँगा, अनागार मार्गको कब अपनाऊँगा। इस प्रकार इस पहली गाथामें कहा कि—ऐसा अपूर्व अवसर कब आएगा?

सर्व भावथी औदासीन्य वृत्ति करी।
मात्र देह ते संयम हेतु जोय जो ॥

अन्य कारणे अन्य कशुं कल्पे नहीं।
देहे पण किंचित् मूर्च्छा नव जोयजो। अ० ।२।।

पहली गाथामें अपूर्व अवसरकी बाह्याभ्यंतर निर्ग्रन्थताकी ओर सब सम्बन्धोंके बन्धनको तोड़नेकी भावना आई। अब आगे कहते हैं।

"सर्व भावसे उदासीन वृत्ति कर" सर्व भावका साक्षी सर्वत्र अकर्तापन, क्रमबद्ध पर्यायका ज्ञाता, परसे उदासीन है। उद्=जगतके सब परभावोंसे भिन्न-स्वसन्मुख होनेमें *प्रयत्नशील* होते हुए ऊँचे भावमें; आसीन=बैठना, वह मत्पर्थसे संसारसे अनासक्त दशा है।

अकेली उदासीनता सुखकी सहेली है।
उदासीनता अध्यात्मकी जननी है।।

यह कथन अठारह वर्षीय श्रीमद् द्वारा किया गया है। उदासीनता अर्थात् मध्यस्थता, समभावदशा है। वह अध्यात्मकी जननी है क्योंकि उससे शुद्ध आत्मस्वरूप प्रकट होता है। तीर्थंकरका पुण्य, इन्द्र चक्रवर्तीके पुण्यकी ऋद्धि, स्वर्गका सुख ये सब सांसारिक उपाधि भाव हैं। इसलिए ज्ञानीके सब परभावोंसे उदासीनवृत्ति है। जो शुभ पुण्य और पाप (शुभ अशुभ) वृत्ति ज्ञानमें दिखाई पड़े तो वह सब मोहकी विकारी अवस्था है, उन सब परभावोंमें ज्ञानी के उपेक्षा वृत्ति है। वह दूसरेसे राग द्वेष, सुख दुख नहीं मानता। अपनी निर्बलतामें राग होता है किन्तु वह उसका स्वामी नहीं होता। ज्ञानीके ज्ञानमें संसारभाव (शुभ अशुभभाव)का आदर

नहीं है। कोई प्रश्न करे कि मुनि होनेसे सब कुछ छूट जाता है क्या ? क्या संसारी भेषमें मुनिभाव नहीं आता ? या वस्त्र सहित मुनि नहीं हो सकता क्या ? क्या त्यागी होनेसे मुनित्व प्रगट हो सकता है ? इन सब प्रश्नोंका उत्तर यह है कि—

ध्रुवस्वभावके आलम्बनके बल द्वारा अनन्तानुबन्धी, प्रत्याख्यान, अप्रत्याख्यान, इन तीन जातिके चतुर्कषायोंके त्याग होते रागके सब निमित्त सहज ही छूट जावे हैं, इसलिए मुनिके केवल देह रहती है। सम्यग्ज्ञान सहित नग्न दिगम्बर निर्ग्रन्थ मुनि दशाकी यह भावना है। जितना राग छूटे उतना रागका निमित्त छूट जाता है यह नियम है, मुनित्व सर्वोत्कृष्ट साधक दशा है। जब सातवा और छठा गुणस्थान बारम्बार बदलता रहता है वहाँ महान पवित्र वीतराग दशा और शातमुद्रा होती है। आत्मामें अनन्त ज्ञान, वीर्यकी शक्ति है। आठ वर्षके बालकके केवलज्ञान हो जावे और करोड वर्ष पूर्वकी आयु रहे तब तक शरीर नग्न रहे और महापुण्यवन्त परम औदारिक शरीर बना रहता है ऐसा प्राकृतिक त्रैकालिक नियम है। मुनि अवस्थामें मात्र देहके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं रहता। देह होने पर भी देह प्रति ममत्व नहीं है। केवली भगवानको रोग, आहार-निहार, उपसर्ग, क्षुधा-तृषादि १८ दोष कभी भी नहीं होते।

'मात्र देह ते सयम हेतु होय जो' ज्ञानियोंके सयम हेतु, देहको देहकी स्थिति पर्यन्त टिकना है, मुनिको छद्मस्थदशामें राग है तब तक शरीर सयमके निर्वाहके लिये नग्न शरीर साधक है किन्तु इसलिए भी शरीरकी कुशलताके लिये साधुको ममत्व नहीं होता। यह बात यथास्थान कही गई है, मुनित्वकी भावना और मुनिके स्वरूप

कैसे हो यह जानना प्रयोजनभूत है। देहको उपचारसे संयमका उपकरण कहा है, क्योंकि समिति पूर्वक निर्दोष आहारकी वृत्ति होती है किन्तु वह इन्द्रिय या विषय कषायके पोषणके लिए नहीं होती लेकिन संयमके लिए होती है। संयम इन्द्रियदमन (अतीन्द्रिय शांतिमें ठहरनेवालोंको) निमित्तरूप होता है, इसका मूल कारण आत्म-स्वभावका आलम्बनरूप स्थिरता है। सहज स्वाभाविक आत्मज्ञानमें ठहरना ही आत्म-स्वभावकी स्थिरता है।

'अन्य कारणे अन्य कशुं कल्पे नहिं' अर्थात् अन्य किसी अपवादसे भी बाह्य वस्त्रादि निमित्त साधु अवस्थामें स्वीकार्य नहीं हैं, यह इसमें बताया है। इसलिए स्वाभाविक (प्राकृतिक) सिद्धान्त से निश्चित हुआ कि जिसकी आत्मा स्वयं सहजरूपमें वर्तती है ऐसे साधकके बहिरंग निमित्तमात्र देह होती है किन्तु मुनिके उसका आश्रय नहीं है। पूजा सत्कारके लिए या देहको सुन्दर दिखानेके लिए या अन्य किसी कारणवश भी मुनि अवस्थामें वस्त्रादिका ग्रहण नहीं है। जबतक पूर्ण वीतराग स्थिति न प्रगटे तबतक अल्प राग होता है इसलिए निर्दोष आहार लेनेकी वृत्ति होती है किन्तु उस वृत्तिका स्वामित्व उनके नहीं है। जिनकल्पी या स्थविरकल्पी किसी भी जैन मुनिके वस्त्र नहीं होता।

'देहे पण किंचित् मूर्छा नव जोय जो' ऐसी मुनि दशामें अंशमात्र भी देहमें आसक्ति या ममता नहीं होती। कोई कहे केवलज्ञान होनेके बाद आहार होवे तो? यह भी झूठी बात है। सातवें गुणस्थानमें ध्यान-समाधि दशा है, उसमें आहारकी वृत्ति नहीं होती तो उससे ऊँची भूमिकामें (७ वें गुणस्थानसे आगेके गुणस्थानों

में) आहारकी वृत्ति कैसे हो ? नहीं ही होती । जिनशासनमें (मोक्षमार्गमें) मुनिके कैसी दशा हो यह यहाँ बताया है। चारित्र भावना (मनोरथ) द्वारा पुरुषार्थकी प्रकटता होनेसे गृहस्थपना छोड़ कर मुनित्व ग्रहण करनेके विकल्प आते हैं। १६ वें, १७ वें १८ वें तीर्थंकर भगवान चक्रवर्ती पदवीधारक थे। वे भी गृहस्थदशामें भगवती जिनदीक्षाकी भावना भाते थे और उस भावनाके परिणामस्वरूप ससार छोड़, मुनित्व अगीकार कर जगलमें नग्न शरीर होकर चल पड़े। जिनकी १६ हजार देव सेवा करते थे और जिनके बत्तीस हजार मुकुटधारी राजा चॅवर करते थे ऐसे छ खण्डके अधिपति भी मुनि होकर जंगलमें चले गये। उनके देहकी ममता पहलेसे ही नहीं होती थी, किन्तु कमजोरी जितना चारित्रमोहका राग रहता है, उसके विकल्पको तोड़कर दिगम्बर अवस्थामें ७ वें गुणस्थान (साधक भूमिका)में प्रवेश करते हैं और उस समय उनके चतुर्थ ज्ञान-मन - पर्यय ज्ञान प्रकट होता है। वह स्वरूपके साधनमें अपने ही अपरिमित आनन्द स्वभावको देखता है इसलिए धर्मात्माकी देह पर दृष्टि (ममत्व भाव) सहज ही दूर हो जाती है। वह देहमें प्रतिकूलतासे दु:खका अनुभव ही नहीं करता।

'यथा जात' जन्म समय जैसा शरीर होता है वैसे ही शरीरकी स्थिति मुक्तिकी साधक दशामें होती है। उस साधक दशामें २८ मूलगुण अवश्यमेव निमित्त होते हैं। वह मुनित्व (निर्ग्रन्थ साधक दशा) हो तब उसकी मुद्रा गम्भीर निर्विकारी, वीतराग, शात, वैराग्यवन्त, निर्दोष होती है। ऐसे गुणोंके भण्डार मुनिका शरीर निर्विकारी नग्न बालककी तरह होता है। मुनि आत्म समाधिस्थ

परम पवित्र ज्ञानमें रमण करते हैं। उनके छठे गुणस्थानमें आहार लेनेका विकल्प होता है वहाँ आहार लेनेकी वृत्ति अवश्य है किन्तु मूर्छा (मोह) या लोलुपता नहीं है। मुनि शरीरके रागके लिये नहीं किन्तु संयमके निर्वाहके लिये एक ही समय आहार जल हाथमें लेते हैं। आहार करते समय मुनिको आहारका लक्ष्य नहीं किंतु पूर्ण कैसे होऊँ ? यही लक्ष्य है; निरन्तर जाग्रत दशा है। पूर्णताकी स्थिति कब आवेगी ? इस भावनामें ही शुद्धताका अंश निहित है। जिन आज्ञा और वीतराग दशाका यथार्थ विचार ही यह भावना है, वह शुद्ध भावनाका कारण है। यदि कारणमें कार्यका अंश न हो तो उसे वीतराग दशाका साधक' कारण संज्ञा नहीं मिले। ऐसी उत्कृष्ट साधक दशा हो ऐसा अपूर्व अवसर कब आयेगा ? यही सब भावना यहाँ की गई है। स्वकालका अर्थ 'स्वसमय' है। श्री अमृतचन्द्राचार्य-ने समयसार ग्रंथके पहले कलशमें 'समय'का अर्थ 'आत्मा' बताया है और उसमें 'भार' जो द्रव्यकर्म भावकर्म नो कर्म रहित शुद्धात्मा है उसे नमस्कार किया है। यहाँ यह भावनाकी गई है कि पूर्ण शुद्ध अवस्था जल्दी प्रकटे।

श्रीमद् रायचन्द्र सम्यग्दृष्टि और आत्मानुभव करनेवाले थे इसलिए यहाँ मुनित्वकी भावना भाते हैं। जैसे पूर्ण असंग निग्रन्थ आत्मस्वरूपका लक्ष्य किया है वैसे ही पूर्णताका लक्ष्य 'परमपद प्राप्ति'का उपाय क्या ? यह वे विचार करते हैं। पूर्ण 'समयसार' साधनेकी भावना व्यक्त की है ॥२॥

दर्शन मोह व्यतीत थई उपज्यो बोध जे,
देह भिन्न केवल चैतन्यनु ज्ञान जो,

तेथी प्रक्षीण चारित्रमोह विलोकिए,
वर्ते एवुं शुद्ध स्वरूपनुं ध्यान जो ॥अपूर्व०॥३॥

आत्माके अभिप्रायमें भ्रान्ति अर्थात् पुण्य पाप रागादि शुभाशुभ परिणामको अपना मानना, उसको आदरणीय-करने योग्य मानना दर्शनमोह है। आत्मा अपनेको भूलरूप मानता है इस-लिए परका कर्त्ता भोक्ता-स्वामी हूँ यह कल्पना करता है। निश्चय-से आत्मतत्त्व सदा अतीन्द्रिय ज्ञानमय पूर्ण असग है, उसका अबध स्वभाव है वह परके बन्धनरहित है। वस्तु स्वभाव ऐसा होते हुये भी ऐसा न मानते हुये मेरेमें जडकर्मके निमित्तका बन्धन है, मैं पुण्यादि युक्त हूँ, राग हितकर है, शुभ परिणाम मेरा कर्त्तव्य है इस प्रकार परभावमें एकत्वबुद्धि होना दर्शन मोह है। एक आत्मतत्वको अन्य तत्वके साथ एकरूपवाला, उपाधिवाला, बन्धवाला मानना दर्शन मोह है।

आत्मा स्वाधीन ज्ञायक वस्तु है, वह कभी स्वभावसे भूलरूप नहीं होता। मोहकर्मकी एक जड़ प्रकृतिका नाम दर्शनमोह है वह तो निमित्तमात्र है। जीव अज्ञान अवस्थामें रहे तब तक अपनेको अन्यथा मानता है परसे भला मानता है किन्तु वह कभी किसी प्रकार-से पर का कर्त्ता भोक्ता नहीं हो सकता। भूल दूर हो सकती है क्योंकि भूल उसका मूल स्वभाव नहीं है किन्तु पर्याय है। भूल होनेमें उपाधि-रूप निमित्त कारण अन्य होना चाहिये इसलिए विकारी अवस्थामें पर निमित्त होता है। निमित्त तो पर वस्तु है ऐसी यथार्थतासे परवस्तु-की अवस्थाका भेदज्ञान नहीं होनेके कारण वह परसे अपनेको अच्छा बुरा मानता है, अपनेको पररूप और परको अपने रूपमें

मानता है, स्वयं रागी द्वेषी, मोही बनता है उनका निमित्त पाकर नये रजकण बंधन हैं किन्तु जिस समय जीव ज्ञान भाव द्वारा अज्ञान भव स्वाका अभाव करता है उस समय दर्शन मोह नष्ट हुआ और ज्ञान प्राप्त हुआ ऐसा कहा जाता है। परका स्वरूप माननमें यह दर्शनमोह कर्म निमित्तरूप है उसका नाश किया है ऐसा यहाँ कहा है।

शक्तिरूपमें जीवका स्वभाव शुद्ध है अभी तो शुद्ध पर्यायका अंश ही प्रकट हुआ है उसको पूर्ण करनेकी भावना है। जैसा सर्वज्ञ भगवानने जाना है वैसा ही आत्मा है ऐसा यथार्थज्ञान उत्पन्न हुआ है। ज्ञान उत्पन्न होगा, ऐसी दीर्घकालीन आशा नहीं है। आत्मज्ञान प्रकट हुआ है वह क्या है यह बतलाते हैं।

'देह भिन्न केवल चैतन्यनु ज्ञान जो' आठ कर्मोंके रजकण द्रव्यकर्म, नोकर्म और भाव कर्म से भिन्न, केवल आत्मा शुद्ध है। जैसे नारियल में गिरी का गोला भिन्न जाना जाता है वैसे ही स्पष्ट, प्रत्यक्ष, ज्ञानमें चिद्घन आत्मा निःसन्देह रूपसे भिन्न जानी जाती है। आत्मा परसे सर्वथा भिन्न निराला है ऐसा केवल शुद्ध आत्माके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान साधक अवस्थामें वर्तता है। ऐसा भान है वह सम्यग्दर्शन है, वह चौथी भूमिका (चौथा गुणस्थान) है। जितने अंशमें वीतरागता वह चारित्र है। सायमें इसे जैनदर्शनकी इकाई कहा है।

जैसे सच्चा अभिप्रायका भान हुआ उसके साथ असंगता-का पुरुषार्थ भी होगा ही। कभी हीनाधिक रूपसे हो किन्तु उसकी भव स्वसन्मुख ही परिणति होती है। केवल चैतन्यका भान है उसमें एक परमाणु मात्र का सम्बन्ध नहीं है पर निमित्त की तरफ की रुचि

से होनेवाला विकार नही है। उसके अभिप्रायमें ऐसी निःशंक श्रद्धा है कि पूर्ण मुक्त परमात्मा समान अकेला आत्मा भिन्न है, बन्ध या उपाधि आत्माका स्वभाव नहीं है, ऐसा होते हुए भी आत्माको दयावान, पुण्यवान, परका कर्त्ता, भोक्ता तथा शुभाशुभ बन्धयुक्त मानना मिथ्यादर्शन-शल्य है। कोई परमार्थ तत्त्वसे रहित होकर स्वच्छन्द आचरण करे उसकी यहाँ चर्चा नहीं है। ज्ञानीको प्रत्यक्ष अनुभव स्वरूप सम्यक्ज्ञान प्रमाण है, इसलिए सहज एकरूप अवस्था (परसे भिन्न) आत्मस्वरूपमें अभेद है ऐसा लक्ष्य उसे निरन्तर रहता है।

'आत्माका एक भी गुण परमाणुमें नहीं मिलता, उसी प्रकार चेतनगुणमें निमित्तका प्रवेश नहीं है।' अनुभवदशाके ज्ञान द्वारा पुरुषार्थकी जागृतियुक्त ज्ञानी ऐसा कहते हैं। स्वरूपकी पूर्ण स्थिरता हो जाय तो ऐसी उत्कृष्ट साधक स्वभावकी भावना भानेकी आवश्यकता नहीं रहे। किन्तु चारित्र गुण अपूर्ण है इसलिए चारित्रमोह कर्मके उदयमें थोडा जुड़ना होता है वह विघ्न है ऐसा जानता है। जितने अंशोंमें कर्मकी तरफ अपनेको प्रवृत्त करे उतने अंशोंमें विघ्नरूप बाधक भाव है।

"तेथी प्रक्षीण मोह चारित्र मोह विलोकिए" इस पंक्तिमें श्रीमद्‌ने कहा है कि चारित्रमोह विशेषरूपसे क्षीण होता जाता है उसे देखिये। सम्यक् बोध द्वारा शुद्ध स्वरूपका ज्ञान होनेसे साधक स्वभाव प्रकटता है किन्तु उसमें अस्थिरता कितनी दूर हुई और कितनी है यह निश्चित कर स्थिरता द्वारा चारित्र मोह को क्षय करनेके लिए पुरुषार्थ बढाता है और ज्ञानकी स्थिरता बढ़नेसे चारित्रमोह विशेष रूपसे क्षीण होता जाता है ऐसी दृढ़ता स्वानुभवमें होती है इसका

नाम 'विलोकना' है। आत्माके भान होनेके पश्चात् चारित्रमोह 'प्रक्षीण' अर्थात् विशेष रीतिसे क्षय होता जाता है। यहाँ उपशमका प्रकरण नहीं है। जो अप्रतिहत, धाराप्रवाही ज्ञानबलकी जागृतिसे आगे बढ़े उसके उपशम नहीं किन्तु क्षय करनेका बल रहता है। अग्निको राखसे ढके उस प्रकारके उपशमकी यहाँ चर्चा नहीं है किन्तु पानीसे उसे बुझादे ऐसे चारित्रमोहके क्षयकी भावना यहाँ की गई है। आत्मा ज्ञानमूर्ति पवित्र शुद्ध है, उसके भान में रहकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप मोक्षमार्गमें प्रकट अवस्थामें स्थिरता बढ़ाऊँ, रागद्वेषका नाश होता हुआ देखूं, और मेरे स्वरूपका विकास होनेसे विशेष निर्मल अवस्था देखूं, ऐसा इन पंक्तियोंमें कहा है। राग, द्वेष, हर्ष, शोक, रति, अरति इत्यादि चारित्रमोहकी अवस्था घटती जाती है।

'वर्ते एव शुद्ध स्वरूपनुं ध्यान जो' इसका अर्थ यह है कि परमाणु मात्रसे मेरा सम्बन्ध नहीं है इसलिए राग, द्वेष, पुण्यादि अस्थिरताका भी सम्बन्ध ज्ञानमें नहीं है ऐसा मैं शुद्धज्ञानघन हूँ। निर्धूम अग्निका अंगारा केवल अग्निमय ही प्रज्वलित रहता है ऐसी चैतन्य ज्योति है उसे पहिचानकर देखकर ज्ञानदशामें स्थिर एकाग्रपसे (ज्ञानमें ही) ज्ञाता बने रहे तो क्रमशः सब कर्म क्रमशः क्षय हो जावेंगे। और द्रव्य स्वभावमें पूर्ण, शुद्ध, पवित्र, निर्मल रूप जैसा आत्मा है वैसा ही अवस्था (पर्यायमें) निर्मल शुद्ध हो जाता है। केवलज्ञानमें उत्कृष्ट पर्याय शुद्धतारूप परिणमती है ऐसा परमात्म स्वभाव प्रकट हो जाय ऐसा अपूर्व अवसर कब आवेगा? अर्थात् स्वसमय स्थिति कब आवे यही भावना यहाँ की गई है।

आत्म स्थिरता त्रण संक्षिप्त योगनी,
मुख्यपणे तो वर्त्ते देह पर्यन्त जो,
घोर परिषह के उपसर्गभये करी,
आवी शके नहीं ते स्थिरतानो अंत जो ।अपूर्व०।४।

इस पदमें श्रीमद्‌ने ज्ञान सहित पुरुषार्थकी धारा व्यक्त की है। और ये २१ पद अविराम एक साथ लिखे गए हैं, इस ज्ञानस्वरूप-की एकाग्रता और उस समयकी विरल दशा कैसी होगी ? अपूर्व साधनका सस्कार कैसे होगा। इस प्रकारकी परम आश्चर्यकारी सद्-विचार श्रेणी होवे तव कैसे परमार्थरूप काम कर सकता है, ऐसे गभीर न्यायका विचार करो। क्या ऐसी अपूर्व बात किसी अन्यके पाससे ला सकते हो ? जिनकी बुद्धि मताग्रहसे मोहित है उनको सत्यकी प्राप्ति नहीं होती। लोग मध्यस्थभावसे तो विचार नहीं करते और केवल निंदा करते हैं कि श्रीमद्‌ने अपने आपको पुजानेके लिए इस काव्यको लिखा है, किन्तु ऐसा कहनेवाले अपनी आत्मामें भयकर अशातना करते हैं। उनका गृहस्थ वेष देखकर विकल्पमें नहीं पड़ना चाहिये, ऐसी अपूर्व भावनाकी वाणीका अपूर्व योग कोई लावे तो ? तोता रटत से यह सम्भव नहीं है। जिसके सहज पुरुषार्थकी धारा प्रकट हो उसको कोई नहीं कहता कि तुम इस समय अपूर्व अवसरकी अन्त-र्गत भावनाका काव्य लिखो किन्तु जिसके जिनदीक्षा (भगवती दीक्षा) का वहुमान हो उसकी आत्मा अन्तरगसे ध्वनि करती हुई स्थिरतारूप पुरुषार्थ की मॉग करती है। वह निवृत्ति, वैराग्य प्रवृत्ति धारण करनेका पुरुषार्थ होता है कि सर्व सगविमुक्त, जैसा हूँ वैसा बनूं । श्रीमद्‌ने इस प्रकार मुनित्वकी भावना की थी।

यह घरमें है या वनमें ? यह प्रश्न ही नहीं है, पूर्ण स्वरूपकी दृष्टि पुकारती है कि अब मैं कैसे पूर्ण होऊं ? वर्तमान कालमें केवली भगवानका इस क्षेत्रमें अभाव है यह विरह दूर होकर पूर्ण स्वरूपकी प्राप्तिका अपूर्व अवसर कैसे आवे यह भावना की है। कोई कहे कि श्रीमद् व्यापार करते थे, धन संग्रह करते थे, किन्तु हे भाई! बाह्यदृष्टि द्वारा इन पवित्र धर्मात्माके हृदयको परखना कठिन है क्योंकि वे गृहस्थ वेषमें थे। साधारण जीवोंको अन्तरकी उज्ज्वलता देखना बहुत कठिन पड़ता है। समाजमें स्वच्छन्दता आदिका जोर था उनको सत्य बात कौन कहे ? उनके अन्तरमें सर्वज्ञ ज्ञानीका मोक्षमार्ग था किन्तु वे तत्कालीन समाजको देखकर अधिक प्रकटमें नहीं आए। लोगोंका पुण्य ऐसा कैसे होता ? कालकी बलिहारी है। उस समय लोग इस प्रकारकी बात सुननेको तैयार नहीं थे। उस कालकी अपेक्षा यह काल अच्छा है क्योंकि हजारों भाई और बहनें प्रेमसे इस बातको सुनते हैं। परीक्षा पूर्वक अपनी पात्रतासे सत्य समझें, ऐसे बहुतसे व्यक्ति तैयार हुए हैं।

वर्तमानमें पंचमहाविदेह क्षेत्रमें साक्षात् सर्वज्ञ प्रभु तीर्थंकर भगवान विराजमान हैं, वहाँ सनातन दिगम्बर वीतराग शासन विद्यमान है। हजारों लाखों सन्त मुनियों के संघ हैं। वह क्षेत्र, काल और वहाँ होने वाले भव्य हैं, यह विरह किसको कहे। श्रीमद्ने ऐसे महत् पुरुष सर्वज्ञ भगवानके विरहको जानकर ऐसी भावना की थी। किसी ने कहा भी है कि, भरतक्षेत्र मानवपणो रे लाध्यो दुःषमकाल, जिन पूर्वधर विरहनी रे, दुलहो साधन चालो रे, अध्यातम जिम सांम लीने परवास।"

हे नाथ ! हे भगवान ! इस भरत क्षेत्र और पचम कालमें आपका विरह हुआ, पूर्वधारी और श्रुत केवलियोंका भी इस समय विरह है, इस विरहमें भी कर्म सम्बन्धको दूर करनेके लिए यह भावना की गई है, साधक निश्चयसे अपना चन्द्रानन भगवानको विनती कर अपने भावको मिलाता है, उस समय मन सम्बन्धी राग-का जो अश है उसमें मद कपायकी रुचि नहीं होनेसे लोकोत्तर पुण्य सहज ही बँध जाता है। किन्तु उसको प्रारम्भसे ही अस्वीकारता है, उस पुण्यके फलमें इन्द्रपद, चक्रवर्तीपद भी सहज ही मिल जाते हैं। भविष्यमें तीर्थंकर भगवानके चरण कमलोंमें जाकर निर्ग्रंथ मार्गका आराधन करनेके लिए मुनित्व अगीकार कर मोक्षदशा प्रकट करने-की यह भावना है। इस कालमें वीतराग सर्वज्ञका योग नहीं है किन्तु सर्वज्ञ शासनका (वीतराग धर्म—आत्मधर्मका) यह निर्ग्रन्थ मार्ग अनादि सत्पथ है वह सनातन है और रहेगा, ऐसी भावना, पूर्ण शुद्धात्माकी प्रतीति लक्ष और स्वानुभव सहित है। पूर्ण साध्यकी प्राप्तिके लिए नग्न मुनिदशा सहित निश्चय चारित्र अगीकार करना चाहिए।

कोई कहे गृहस्थ वेषमें केवल ज्ञान और मुनित्व प्रकट होने-में क्या बाधा है ? उत्तर—यह बात असत्य है क्योंकि बाह्याभ्यतर निर्ग्रंथ दशा प्रकट होनेसे, अभ्यन्तर पुरुषार्थसे तीनों कपायोंका नाश होने-से बाह्य निमित्त (परिग्रह)का त्याग सहज ही होता है। गृहस्थावास-में कपायका सर्वथा त्याग नहीं हो सकता इसलिए सच्चा मुनित्व होना चाहिए और वह नग्नत्व—वस्त्ररहितके ही होता है।

तीसरी गाथामें, दर्शनमोह दूर होने पर देहादिसे भिन्न केवल चैतन्यका ज्ञान होता है, ऐसा कहा है और ज्ञानीके मुख्यरूप बोध सहित ज्ञानकी एकाग्रता द्वारा हास्य शोक, रागादि, अस्थिरता और चारित्र मोह कर्मके उदयका अभाव होता है। ऐसा होने पर सातवाँ गुणस्थान होता है। ध्याता, ध्यान, ध्येयका विकल्प छूटकर ज्ञान समाधिस्थ दशा, ध्यानकी स्थिरतारूप सातवी भूमिका (मुनित्व) कैसे प्रकटे यहाँ यह भावना की गई है। आत्मस्थिरता अर्थात् तन, मन, वचनकी आलम्बन रहित स्वरूप मुख्यरूपसे हो, उसमें विराम न हो ऐसी स्थिरता, देहका अन्त आवे तब तक रहे यह भावना की गई है। यहाँ सातवाँ गुणस्थान मुख्यरूपसे कहा है, वहाँ बुद्धि पूर्वक विकल्प नहीं है इसलिए निर्विकल्प दशा है, मुनि अवस्थामें छठे गुणस्थानमें बुद्धि पूर्वक तन, मन और वचनका शुभयोग, पंचमहाव्रतके शुभ विकल्पादि रहते हैं, किन्तु मुख्यरूपसे अन्दर रमणता रहे, आत्मबलके द्वारा स्वरूपके लक्षमें रहनेकी ऐसी भावना बारबार होती है।

"घोर परिषह या उपसर्ग भये करी" आत्मस्थिरता शुभाशुभ के विकल्प रहित होती है। शुद्ध स्वभावमें एकाग्रता इस प्रकारकी हो कि बाईस घोर परिषह आजावे तो भी उनके प्रति अरति खेद न हो। चाहे घोर परिषह आवे किन्तु मेरी स्थिरताको कोई संयोग नहीं डिगा सकता, छह छह महिने तक आहार पानी न मिले, सख्त सर्दी हो तो भी उसका विकल्प नहीं आवे, आज बरफ गिरा इसलिए विहार न करूँ ऐसा विकल्प नहीं आवे। भयंकर ताप होते हुए भी यह भय न हो कि मुझ इससे दुःख होगा। यदि बाहरसे सूर्य प्रखर हो और

ताप भीषण हो तो मुनिके उग्र पुरुषार्थ प्रकट होकर स्थिरता जल्दी बढती है, उग्र साता-असाताके निमित्त आवे किन्तु मेरी आत्मस्थिरता-का अन्त न आवे। इस प्रकार मेरी निश्चल स्वरूप समाधि साधक दशा जयवन्त-जयनशील वर्तती रहे, जिन पुरुषोंने विरुद्ध प्रसगोंमें निश्चलदशा द्वारा परम आश्चर्यकारी सयम समाधि धारण की है वे धन्य हैं। चाहे उतने प्रतिकूल सयोग हों किन्तु ज्ञानी उनको बाधक नहीं मानता।

उपसर्ग चार प्रकारके हैं, देव अथवा व्यतरकृत, तिर्यञ्चकृत, मनुष्यकृत और अचेतनकृत। कमठने श्री पार्श्वनाथ भगवान की मुनि दशामें उपसर्ग किया और श्री महावीर भगवानकी मुनिदशामें भी उपसर्ग हुये थे किन्तु उनके क्षोभ नहीं हुआ। इसी प्रकार प्रत्येक धर्मात्मा मुनि आत्म-स्थिरतामें अडोल रहते हैं। घाणीमें पेले जाने पर भी उन्हें स्वरूपकी स्थिरता छोडनेका विकल्प नहीं आता। मैंने बहुत सहन किया ऐसा विकल्प भी नहीं आता, और जो ऐसा समझे कि मैंने बहुत सहन किया उसको अपने सामर्थ्यका ज्ञान नहीं है। लोग अध्ययन, श्रवण, मनन नहीं करते और निवृत्ति लेकर भी ऐसी अपूर्व भावना नहीं करते। श्रीमद् यहाँ स्वरूपकी स्थिरताका चिंतन करते हैं, वे अपने भाव व्यक्त करते हैं। उनके एक एक शब्दमें अपूर्वता है, मगलमें ही अपूर्वता है, वे अपूर्वसाधक दशा (मुनि पर्याय) प्रकट होनेकी भावना भाते हैं।

संयमना हेतुथी योगप्रवर्त्तना,
स्वरूपलक्षे जिनआज्ञा आधीन जो;

ते पण क्षण क्षण घटती जाती स्थितिमां,
अंते थाए निजस्वरूपमां लीन जो ।अपूर्व०।५।

उक्त पदमें की गई भावनाका अर्थ यह है कि शुभाशुभ भाव-को टालनेके लिये मुनि अवस्थामें स्वरूपकी स्थिरतारूप उपयोग होता है किन्तु जो उस स्वरूपमें निर्विकल्प रूपसे स्थिर नहीं रह सके तब वह शुभोपयोगमें (छठे गुणस्थानक)में आता है। अब शास्त्र श्रवण, शिष्यको उपदेश, देव, शास्त्र गुरुकी भक्ति, आहार विहारादि के शुभ भाव होते हैं तो वे भी संयमके हेतुरूपमें ही प्रवर्तते हैं। शरीर आदि पर द्रव्योंकी जो क्रिया होती है वे उसमें अपना कर्तृत्व नहीं मानते और शुभ भावको हेय मानते हैं। मैं ज्ञाता, दृष्टा, असंग हूँ ऐसी दृष्टिको बनाये रखनेका पुरुषार्थ उस समय भी चालू रहता है। इसलिए यह शुभोपयोगरूप प्रवृत्ति वीतराग भगवानकी आज्ञानुसार है।

मैं पूर्ण अवस्थामें नहीं पहुँचा इसलिए जिन भगवानकी आज्ञाका आराधन करनेमें मेरी प्रवृत्ति होती है क्योंकि वीतराग चारित्रदशामें निर्दोषतया प्रवर्तन करनेका मेरा भाव है, यह भगवती पूज्य दिव्य जिनदीक्षाका बहुमान है। 'नमो लोए सव्वसाहूणं' अर्थात् सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र स्वरूप आत्मामें एकत्व रूपसे रमण करने वाले साधु वंदनीय हैं। अनन्त ज्ञानी भगवन्तों द्वारा प्ररूपित लोकोत्तर मार्ग (मोक्षमार्ग)में जो प्रवृत्ति करते हैं उनका बहुमान करनेका भाव साधकको आये बिना नहीं रहता।

साधक सातवीं भूमिका (गुणस्थान)में आराध्य आराधक,

तथा मैं मुनि हूँ आदिके भाव तथा व्रतादिके शुभ परिणामोंका विकल्प छोडकर स्वसंवेदनमें स्थिर हो जाता है, वहाँ वंद्य-वंदक भाव नहीं होता। सर्वज्ञ भगवान कहते हैं कि छठे गुणस्थानमें मुनित्वके आचार नियम तथा षट् आवश्यक आदि क्रियाका शुभ विकल्प अकषायके लक्षमें रहता है। देखो! कैसी भावना! भावना करते हुये वीत-राग ज्ञानीके प्रति कितनी भक्ति रहती है और कहते हैं कि हे नाथ! मैं जिनेन्द्र भगवानके धर्मकी श्रद्धा करता हूँ उसकी रुचि करता हूँ, उसे अन्तरमें जानता हूँ अनुभवता हूँ और उसकी आराधना करता हूँ। जिनाज्ञाके विचारों द्वारा मेरा साधक स्वभाव कैसे वढे यह भावना है। पूर्ण यथाख्यात चारित्र ही एक उपादेय है। शुभाशुभ योगकी प्रवृत्ति मेरा स्वभाव नहीं है। उनसे हित नहीं होता ऐसा भान होते हुए भी शुभयोग हुये विना नहीं रहता। नीचेकी भूमिकायें (गुणस्थानमें) पुरुषार्थ करते हुये शुभयोग भी निमित्तरूपमें साथ रहता है।

'स्वरूप लक्षे जिन आज्ञा आधीन जो' यह गुण प्रकट करने-की बात है। जितने अंशोंमें जिनाज्ञा, विचार आदिका मानसिक आलम्बन छूटे उतने अंशोंमें स्वरूपकी स्थिरता सहज ही वढ़ती जाती है और तदनुरूप आज्ञा आदिके आलम्बनका विकल्प छूटता जाता है।

"ते पण क्षण क्षण घटती जाती स्थितिमाँ" जैसे ज्ञानमें अंतरंग स्थिरता वढती जावे वैसे निमित्तके विकल्प छूट जाते हैं। भगवान क्या कहते हैं, इत्यादि आज्ञाका आलम्बन सातवें गुणस्थान-

में सहज ही छूट जाता है क्षण क्षण मनके विकल्पात्मक परिणामों-का घटना और अंतरंगमें स्थिरता, स्वरूप रमणताका बढ़ना होता है। देखो ! श्रीमद् रायचन्द्रने गृहस्थाश्रममें शैय्या पर बैठकर कैसी भावना भाई है, इस प्रकारका सैद्धान्तिक कथन कोई करे तो !

"अंते थाये निजस्वरूप माँ लीन जो" प्रभु क्या कहते हैं ऐसे विकल्पका आलम्बन भी छूट जाता है और मात्र ज्ञानस्वरूप समाधि-में स्थिरता रहे ऐसा अपूर्व अवसर कब आवेगा यह भावना यहाँ की गई है। ऐसे आत्मस्वरूपकी त्रकाल दशा, निर्ग्रंथ वीतराग स्थिति धारक मुनिपद इस देहमें प्राप्त हो, ऐसा अपूर्व अवसर (शुद्ध पर्याय की निर्मलता, स्थिरता) कब आवेगा ? ऐसी चैतन्यकी शक्तिमेंसे ही भावना भानी चाहिये। अपने शुद्ध स्वरूपकी भावना करने वाले कालक्षेत्रकी प्रतीक्षा नहीं करते। अपने शुद्ध स्वरूपको देखता है "पूर्णताके लक्ष्यसे प्रारम्भ" यहाँ पूर्ण पर दृष्टि है। जिसको जिसका भवलक्ष हो उसके उसका वायदा नहीं होता। जिसमें उत्कृष्ट रुचि हो उसमें क्षणमात्रका विलम्ब भी नहीं सहा जाता। आत्माका स्वभाव आनन्द स्वरूप है इसलिये आनन्दकी लहर-हिलोर आवे, उसमें अकेला आत्मा ही चिन्तनमें आ रहा है।

आत्मस्थिरता और उसका पुरुषार्थ अपने स्वयंके अधीन है। किन्तु मन, वचन और कायका योग स्थिर रहे या चलायमान हो, यह उदयाधीन है। उन योगोंका प्रवर्तन सर्वथा घट कर अयोगीपना तो चौदहवें गुणस्थानमें होता है। सातवें गुणस्थानमें अप्रमत्त दशामें मैं दृष्टा हूँ' आदि सब विकल्प छूटकर आत्मस्वरूपमें स्थिरता रहती

है, उसमें बुद्धिपूर्वक किसी प्रकारके विकल्पका प्रवेश नहीं है। उसमें होनेवाले अति सूक्ष्म विकल्प केवल ज्ञानगम्य हैं, साधकको तो उन विकल्पोंका लक्ष्य नहीं है। 'अपूर्व अवसर' काव्यमें १२ वीं पंक्ति तक सातवें गुणस्थानक पर्यन्तकी भावना समझनी चाहिये। अवसरका अर्थ है—उन उन भावोंकी स्थिरताकी अवस्था, एकाग्रता। यहाँ मुख्यरूपसे मुनित्वकी निर्ग्रन्थ दशाके अवसरको बताया है।

पंच विषयमाँ रागद्वेष विरहितता,
पंच प्रमादे न मले मननो क्षोभ जो;
द्रव्य क्षेत्र ने काल भाव प्रतिबंधवण,
विचरवुं उदयाधीन पण वीतलोभ जो ।६।

यह भावना धन्य है। यह अपूर्व साधक स्वभावकी निर्ग्रन्थ दशा धन्य है। एक दिन यह भावना पढी जारही थी तब एक मताग्रही बोला 'श्रीमद् ऐसी भावना भाते हुए भी साधु क्यों नहीं बने ? अरे! कैसी अधम मनोदशा है। पचमकालकी बलिहारी है। निंदा करने वालेको इतना भी ज्ञान नहीं है कि यह तो भावना है। सम्यक्दर्शन होनेके साथ मुनित्व आवे यह नियम नहीं है। मुनित्व किसी हठसे नहीं होता। यह तो लोकोत्तर परमार्थ मार्ग है, अपूर्व साधक दशाकी भावना है। जितना पुरुषार्थ हो उतना ही कार्य सहज हुआ। कोई मानता है कि बाह्य त्याग किया इसलिये हम साधु हैं किन्तु यह कोई नाटक अभिनय करना नहीं है। यह तो अपूर्व वीतराग चारित्रकी

वास है। रागद्वेष, कषायकी तीन चौकड़ियोंके अभाव होनेसे मुनित्व प्रकटता है और सब सहज ही बाह्य निमित्त वस्त्रादि छूट जाते हैं यह नियम है। हठसे कुछ भी नहीं होता, भावना करे और तुरन्त ही फल दिखाई पड़े ऐसा कोई नियम नहीं है। किन्तु भावना करनेवालेको पूर्ण विश्वास है कि भव संसारमें एकसे ज्यादा भव नहीं है। ऐसे पवित्र धर्मात्मा द्वारा की गई भावनाका विरोध करनेवाले जीव भी थे। 'उसकी प्रशंसा करनी हो तो हमारे मकानमें मत आओ' ऐसा कहनेवाले भी थे। उस समयकी अपेक्षा वर्तमान काल अच्छा है कि जिससे कई स्थानों पर उनकी (श्रीमद्की) महिमाके गीत गाए जाते हैं। ज्ञान और ज्ञानीकी विराधना करनेवाले जीवोंको सच्ची हितकी बात अच्छी नहीं लगती। जैसे सन्निपातक रोगीको मीठा दूध हानि करता है उसीप्रकार संसारमें विपरीत मान्यतावाले परम हितका उपदेश सुनते हुए भी उपेक्षा मनपर करते हैं। वे अपनेको महान समझते हैं और दूसरोंको तुच्छ। विषय कषाय क्या है, उन्हें कैसे टाले यह सब कुछ वह समझता नहीं। उन्हें जिनाज्ञाका ज्ञान नहीं है और घर छोड़कर वेषधारी होकर त्यागी बननेका अभिमान करते हैं। वीतरागीकी आज्ञाके नाम पर अनन्तज्ञानीकी और अपनी अवज्ञा करते हैं। अवज्ञा कैसे होती है, यह उसके ज्ञानमें नहीं है उन्हें कौन समझावे? ऐसे व्यवहारमूढ़ जीव बहुत देखे। श्रीमद्ने आत्मसिद्धिमें कहा है—

> "लह्युं स्वरूप न वृत्तिनुं, ग्रह्युं व्रत अभिमान।
> ग्रहे नहि परमार्थने लेवा लौकिक मान ॥

मम्यग्दर्शन क्या है ? इसका उन जीवोंको ज्ञान नहीं है और मात्र शुभभावको (मंद कषायको) धर्म मानते हैं, संवर मानते हैं, निर्जरा मानते हैं। दया, दानके शुभ रागको आस्रव न मानते हुए भी उस रागसे समारका टूटना, कम होना मानते हैं, किन्तु वास्तवमें शुभ परिणाम रखे तो पुण्य है, धर्म नहीं है। हम व्रतधारी हैं, त्यागी हैं, ऐसे अभिमान करनेवालेके तो मद कपाय भी नहीं है, तो संवर, निर्जरा कैसे हो ? नहीं ही हो। जिसने ज्ञानीको पहचाना है उसे मध्यस्थता एव आदर महित उसका समागम करना चाहिये। उमकी वात पर मध्यस्थतापूर्वक विचार करके मतार्थ, मानार्थ स्वच्छन्द आदि दोपोंको दूर कर अतीन्द्रिय आत्मधर्मका निर्णय करना चाहिये।

"पंच विषयमां रागद्वेष विरहितता" पाच इन्द्रियोंके विपय, निन्दा-प्रशसाके शब्द, सुन्दर असुन्दर रूप, खट्टा मीठा रस, सुगन्ध दुर्गन्ध रूप गध, कोमल-कर्कश आदि स्पर्श इन सबमें रागद्वेष नहीं होना चाहिये और विशेषत उनकी उपेक्षा रखनी चाहिए। जैसे हाथी के मोटे चमडे पर ककरीका स्पर्श होते हुए भी उसका कोई लक्ष्य नहीं होता उसीप्रकार स्वरूप स्थिरताके रमणमें बाह्य लक्ष नहीं होता। ज्ञातास्वरूपके पूर्ण ध्येयके आगे विपय कषायकी वृत्ति (विकल्प) भी नहीं होती। चाहे उनके अनुकूल प्रतिकूल पुद्गल रचनाके विकृत गध, रस, रूपके ढेरके ढेर पडे हुए हों किन्तु उनकी तरफ उनका लक्ष्य भी नहीं होता।

"पच प्रमादे न मले मननो क्षोभ जो" पाच प्रमाद नहीं हों अर्थात् स्वरूपमें असावधानी न हो जाय। प्रमाद पांच प्रकारके हैं

विकथा, कषाय, विषय, निद्रा और स्नेह। अपने स्वरूपके महत्त्वसे जो परिचित है उसे पर वस्तुके क्षणिक संयोगकी ममता कैसे हो? जैसे चक्रवर्तीके चौसठ सेरवाले अति मूल्यवान कई हार होते हैं, उसे भील चिरमीका हार भेंट कर जाय तो उसके प्रति ममता कैसे होगी? उसीप्रकार ज्ञानी धर्मात्माको विषय कषायसे क्षोभ नहीं होता। ज्ञान स्वरूपकी स्थिरतामें किसी भी प्रकारसे संयोग वियोगमें क्षोभ या अस्थिरता नहीं होत। इसलिए स्वसन्मुख ज्ञातापनेमें ही सावधान रहूँ।

विकथा-आत्माकी धर्म कथा भूलकर पर कथा पढ़े, ऐसी साधुकी वृत्ति कभी नहीं होती। संसारकी निंदाका रस विकथा है, वह ज्ञानीके नहीं होता। जिसे मोक्षकी पूर्ण पवित्रताका प्रेम है वह संसारके विषय, कषाय, निंदा आदि करनेका भाव कैसे करे? नहीं ही करे।

मुनि अवस्थामें पांच प्रकारके विषयों तथा क्रोध मान, माया और लोभकी तीन चौकड़ियोंका अभाव होता है। आत्मस्वरूपमें अनुत्साह प्रमाद है। आत्म स्वरूपमें उत्साह अथवा स्वरूपमें सावधानीका नाम अप्रमाद है ऐसी सर्वोत्कृष्ट साधक दशा (सर्व काल स्वरूपाचरण) रहे, ऐसी शुद्ध अवस्थाकी एकाग्रता जल्दी हो ऐसी यहाँ भावना की गई है।

'द्रव्य क्षेत्र अरु काल भाव प्रतिबन्धवण' (१) द्रव्य प्रतिबन्ध ज्ञानीको कोई पर वस्तु मिला न चले, उसमें अटकना पड़े, ऐसा नहीं होता है। ज्ञानी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रके अतिरिक्त और कुछ

नहीं चाहते (२) क्षेत्र प्रतिबन्धका अभाव—जल, वायुकी अनुकूलता अमुक क्षेत्रमें अच्छी है इसलिए वहाँ ठहरूँ यह होता नहीं। (३) काल प्रतिबन्ध रहितता—शीत ऋतुमें अमुक क्षेत्र मेरे अनुकूल है, गर्मीमें अमुक स्थान पर जाऊँ ऐसा कालका प्रतिबन्ध नहीं होता। (४) भाव प्रतिबन्ध अभाव—किसी भी प्रकारसे एकान्त पक्षका आग्रह न हो, इस स्थान पर मुझे माननेवाले बहुत हैं अथवा इस स्थान पर अधिक मनुष्य हैं, उनकी भक्ति अच्छी है इसलिए वहाँ रहूँ या बहुत भक्ति भावसे आग्रह करते हैं इसलिए ठहरूँ ऐसा भाव (इच्छा) नहीं होता। ऐसे चार प्रकारके प्रतिबन्धोंसे रहित अप्रति-बन्धतया मोक्षमार्गमें अप्रतिहत भावसे कब विचरूँगा, ऐसी भावना यहाँ की गई है।

"विचरवु उदयाधीन पण वीत लोभ जो" विहार स्थलोंमें लोभ कषाय रहित सयम हेतुसे उदयाधीन, प्रकृतिका योगानुसार शरीरादिका कार्य होता है। उदयाधीन अर्थात् पूर्वप्रकृतिका उदय आवे उसको विवेक सहित जाने कि यह मेरा कर्तव्य नहीं है और उनमें ममत्व-राग न करे। अपने ज्ञान भावसे प्रकृतिके उदयको जाने और ज्ञानमें ज्ञानरूपसे सावधान रहे किन्तु उसमें कोई इच्छा विकल्प या ममत्त्व नहीं करे। वहाँ अपूर्व वीतराग दशाके लिये निर्ग्रंथ मुनि अप्रतिहत दर्शन-ज्ञान चारित्ररूप मोक्षमार्गमें रहे, आत्मा की ऐसी अपूर्व स्थिरता उत्कृष्ट साधक दशा कब आवेगी ? ऐसी भावना भाई है।

"सर्व सबधनु बन्धन तीक्ष्ण छेदीने"-ज्ञान और उदयकी सूक्ष्म सधिकी प्रज्ञा द्वारा स्थिरतासे छेद कर अकषायके लक्षसे

विचरनेकी भावना प्रकट की है और इसलिए कहा है कि "विचरशु कब महत् पुरुषके पंथ जो" कोई जिनेश्वर महान पुरुष मिले या मुनिवर सत्पुरुषोंका संयोग मिले तो उनके पथ चिन्होंका मार्गका अनुसरण करूँ, ऐसा अपूर्व अवसर कब आवेगा? बाह्य और अभ्यन्तर कर्म कलंक दूर कर आत्म स्वरूपकी स्थिरता करूँ, ऐसी साधकदशाकी यह अपूर्व भावना है ॥६॥

> क्रोधप्रत्ये तो वर्ते क्रोधस्वभावता,
> मानप्रत्ये तो दीनपणानु मान जो ।
> मायाप्रत्ये माया साक्षी भावनी
> लोभप्रत्ये नहीं लोभ समान जो ॥अ०॥७॥

जैसी रुचि हो वैसी भावना होती है, आत्मा स्वभावतः कषायरूप नहीं है इसलिए चारों कषायोंको छोड़नेका भाव यहाँ बताया है। आत्मा क्रोध मान, माया और लोभरूप नहीं है, क्रोधादि भूल करना उसका स्वभाव नहीं है, वह भूलरूप होना मानता है किंतु स्वयं भूलरूप नहीं होता। जैसे क्रोध करनेका भाव हो वैसे क्रोधको रोकनेके लिए सम पुरुषार्थ रूप भाव करूँ । अर्थात् ज्ञानमें स्थिर होऊँ इसप्रकार ज्ञान स्वभावके प्रति रुचि होनेसे क्रोध रुक जाता है क्योंकि अंतरंगमें ज्ञानकला द्वारा ज्ञानका धैर्य प्रकट होता है । मक्खीको शक्कर और फिटकरीका विवेक है इसलिये वह शक्कर पर बैठती है और फिटकरी पर नहीं मक्खीको भी दोनों वस्तुओंके लक्षणोंको जानकर ग्रहण-त्यागका विवेक है। इसीप्रकार जीवको भी विवेक करना चाहिए। जड़ वस्तुके लक्षणसे भिन्न लक्षणवाला

मैं राग, द्वेष रहित, पवित्र ज्ञान आनन्द-स्वरूप हूँ। जैसे मक्खी फिटकरीमें खटास जानकर छोडती है उसी प्रकार ज्ञानी विवेक द्वारा स्वपरका लक्षण भिन्न जानकर परभाव-शुभाशुभ भावको छोडता है और स्वानुभवमें स्थिर रहता है। आत्माके अनहद निराकुल आनन्द रसका रसिक मगजपच्चीमें, क्लेशमें क्यों फँसे ? नहीं फँसेगा।

मैं आत्मा हूँ, सत्-चैतन्यमय हूँ, शुभाशुभ रागादि तथा देहादि सर्वाभास रहित साक्षी स्वभाव, प्रत्यक्ष ज्ञाता हूँ परद्रव्य मेरे बाधक नहीं हैं। ऐसे साधकको कभी कुछ क्रोधादि भी हो किन्तु उसके ज्ञान श्रद्धानका नाश नहीं होता। यह ऐसी उपेक्षा भावकी भावना है कि मैं उदय भावमें न अटकूं। जैसे सत्ताप्रिय और पुण्यवान मनुष्य हो वह दूसरेको दबानेकी कला अच्छी तरह जानता हो और पुण्यके सब पक्ष समान हों तो निर्बल मनुष्योंको तो खडा ही न रहने दे उसी प्रकार चैतन्यप्रभुमें असीमित सामर्थ्य ज्ञानबल है, वे पुण्यपापकी वृत्तिको दबाकर दूर करदे, साधकको ऐसी स्वसत्ताका वीर्य प्रकट होता है। पूर्व प्रकृतिकी वर्त्तमान स्थिति दिखाई पडती है उसका साक्षी हूँ, ज्ञाता हूँ इसलिये क्रोधादिको न होने दूं ऐसे अकषाय शुद्ध स्वरूप में सावधान रहूँ, ऐसी उत्कृष्ट साधक दशा कब आवेगी ? ऐसी भावना बार बार की गई है।

'मान प्रत्ये तो दीनपणानु मान जो' लोकोत्तर विनय और विवेक सहित दीनता रखना सतस्वरूपके प्रति बहुमान करना है, नम्रता है। सच्चे गुरुका दासानुदास हूँ, पूर्ण स्वरूपका दास हूँ इसमें दीनता या गरीबी नहीं है किन्तु पूर्ण केवलज्ञान स्वरूप आत्माका

विनय है, जिनमें जो अनन्त गुण प्रकट हो गये हैं उनको देखकर उन गुणोंको अपनेमें प्रकट करनेकी रुचिका विनय है।

शास्त्रमें कहा है कि क्रोधको उपशम भावसे जीतो, मान को नम्रता द्वारा दूर करो, 'अहो! सर्वज्ञ वीतराग प्रभु! कहाँ आपकी अत्यन्त पूर्णस्वरूप आनन्द दशा और कहाँ मेरी अल्पज्ञता। जबतक मुझमें केवलज्ञान प्रगट न हो तब तक मैं अल्पज्ञ हूँ'। इसप्रकार अपने पूर्ण स्वरूपमें स्थिर होनेके लिए अत्यन्त निर्मानता मृदुता प्रकट की गई है। जिसे जिसकी रुचि होती है वह उसका बहुमान करता है, इस विकल्पके साथ भी पूर्ण अकषायस्वरूप हूँ इस लक्ष्यसे शुद्धिकी वृद्धिके लिये यह पुरुषार्थ है, ऐसा यह लोकोत्तर विनय है।

चार ज्ञानधारी श्री गणधरदेव सर्वज्ञ प्रभुके पास अपनी पामरता प्रकट करते हैं। संसारमें विपरीत दृष्टि वाले दूसरों द्वारा लाभ हानि मानते हैं, पुण्यादिकी पराधीनतामें सुख मानकर अभिमान करते हैं कि मैं शरीरसे सुन्दर हूँ, आदर एवं द्रव्यसे मैं बड़ा हूँ इत्यादि उपाधिभावोंको अपनाकर अनित्य जड़ पदार्थोंसे अपनेको बलवान समझता है। पुण्यादि जड़की उपाधिसे अपनेको बलवान समझना महा अज्ञान सहित विपरीत दृष्टि है। धर्मात्मा यह मानता है कि मेरेमें अनन्त गुण हैं, अनन्त सुख है, किन्तु अभी पूर्ण पवित्र दशा प्रकट नहीं हुई इसलिए वह निर्दोष देव, शास्त्र, गुरुकी भक्ति करता है। अपने समस्त गुणोंका बहुमान करते हुए वह विनयसे नत होता है। जो पूर्णताका साधक है उसे पूर्ण पवित्र स्वरूपकी आराधना में अल्प भी दोष रखनेकी बुद्धि नहीं होती। विनयी धर्मात्मा अत्यन्त

कोमलतासे सरल परिणामोंमें रहता है, वह निर्दोष स्वभावमें जागृति वाली भावना भाता है कि गर्वका एक अंश भी नहीं हो, ऐसी निर्मा-नता वीतराग दशा कब होगी ?

साधकके अन्तरमें पूर्णशुद्ध परमात्मस्वरूपकी प्रतीति रहती है इसलिए वह जानता है कि मैं अभी वर्त्तमान दशामें अस्थिरता रूप कमजोरीको लिए हुये पामर हूँ अर्थात् मैं पूर्णस्वरूपका दासानुदास हूँ। ऐसा विवेक होनेसे वह वीतरागी साधुका बहुमान करता है। उसे परमार्थसे अपने स्वरूपकी भक्ति है। मेरा पूर्ण स्वभाव अभी प्रकट नहीं हुआ इसलिए अभिमान कैसे करूँ ? ऐसा जानता हुआ वह स्वरूपकी मर्यादामें रहता है।

जीवकी सिद्ध परमात्म दशा पूर्णरूपसे निर्मल होनेके बाद कोई अन्य मर्यादा लाघनेको शेष नहीं रहती है। स्वभाव ही अपने आपमें परिपूर्ण किन्तु साधक दशामें अभी उसके अनन्तवें भाग भी गुणकी शुद्धता प्रकट नहीं हुई तो उसमें अभिमान कैसे करूँ ? मुमुक्षु–साधक आत्मा अति सरल, हित–अहित भावको समझनेमें विचक्षण और विनयवान होता है। उसमें ही पात्रता और लोकोत्तर विनय की महत्ता है। प्रभुका भक्त प्रभु जैसा ही हो। मैं परमात्माका दासानुदास हूँ, चरणरज हूँ, ऐसी निर्मानता साधकके होती है। वह अपने गुणों पर लक्ष्य कर स्वभाव की शुद्धता बढाने वाला होनेसे पुण्यादि, देह आदि की गुरुता स्वीकार नहीं करता है। साधक अभूत-पूर्व पवित्र निर्मान दशा (मध्यस्थ दशा–वीतराग दशा) की भावना करता है। पहले अनन्तकालमें शुभरागमें लौकिक सत्य, सरलता,

निर्मानत्व आदि किये हैं वे नहीं किन्तु आत्माका यथार्थ भान सहित अकषाय लक्षसे कषायादि राग द्वेषकी अस्थिरताका सर्वथा क्षय करूँ ऐसा अवसर अपूर्व है। जीवने अज्ञानभावमें तो बहुत किया है बाह्य में त्यागी होकर ध्यानमें बैठा हो, तब उसके शरीरको जलावे अथवा चमड़ा उतारकर नमक डाल दे तो भी मनमें जरासा भी क्रोध नहीं करे, ऐसी क्षमा अज्ञान भावमें अनेक बार की किन्तु अंतरंगमें मन सम्बन्धी शुभ परिणामका पक्ष (बन्धभाव) बना रहा तब भी ज्ञान भाव युक्त निर्जरा नहीं हुई। आत्माके भान बिना जो सरलता, विनय, निर्मानत्व, शास्त्रोंका पठन आदि हैं वे सब मनकी धारणारूप परभाव हैं। जीव उस बन्धभाव (पुण्यभाव)को अपना मानकर शुभ अशुभमें रुचिरूपसे परभावमें लीन रहा है किन्तु आत्माको परसे निराला, निरालम्बी कैसे रखें, इसकी ज्ञानकला जबतक जीव नहीं जाने तब तक उसका सारा श्रम व्यर्थमें ही जाता है क्योंकि वह अज्ञान (विपरीत ज्ञान) से छुटकारा हो बचाव है ऐसा मानी है।

"मायाप्रत्ये माया साक्षी भावनी" कपट भावकी सूक्ष्म वृत्तिके समक्ष अकषाय ज्ञायक साक्षी भावकी जागृति रूप सरलता अर्थात् विभाव समक्ष (मलिन भाव समक्ष) विरुद्ध रूप निर्दोष विचक्षणता विकसित हो तो गुण द्वारा दोष दूर हों।

कोई कहता है कि संसारमें 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' क्योंकि वैसा किये बिना काम नहीं चलता। स्त्री-पुत्रादिक सब अनुशासनमें रहें इसलिए हमें तो घर, व दुनियादारीके लिए कषाय करनी ही पड़ती है, उसको ज्ञानी कहते हैं कि तुम्हारी यह मान्यता विपरीत है,

भ्रम है। पाप करूँ, क्रोध-कपट करूँ तो सब ठीक रहे अर्थात दोषसे लाभ हो, यह कैसे बने ? जो ऐसे विपरीत सिद्धान्तको मान्य करते हैं, वे क्रोध, कपटको नहीं छोड सकते क्योंकि शठके प्रति शठता करना स्वय अपराध है। शठके प्रति भी सरलता सज्जनता होनी चाहिये। प्रयोजनवश किसीको सूचना देनेका विकल्प आ जाय, यह अलग बात है किन्तु कषाय करने योग्य है ऐसी मान्यता तो विपरीत है। थोडा बहुत क्रोध, मान, माया, लोभ करूँ तो सब ठीक बना रहे ऐसा जो मानता है उसका अर्थ यह हुआ कि अवगुण करूँ, दोषदम्भ करूँ तो ही अच्छा रहे, व्यवस्था रहे, ये सब विपरीत मान्यता है। दोष करने योग्य माननेसे दोष रखनेकी बुद्धि हुई तो उससे गुण कैसे प्रकटे ? इसलिए आत्माका हित करना हो तो यह निर्णय करना चाहिए कि मेरा स्वभाव असीम समता क्षमारूप है।

ससार देहादि परद्रव्यकी व्यवस्थामें कोई किसीके अधिकारमें नहीं, प्रत्येक वस्तुका कार्य स्वतन्त्र है, कोई वस्तु दूसरेके अधीन नहीं है। किसीके राग द्वेष करनेसे वह चीज अनुकूल नहीं होती किन्तु पूर्वका पुण्य हो तो वह उस कारणसे अनुकूल दीखती है किन्तु कोई चीज या कोई आत्मा किसीके अधीन नहीं है।

कोई कहे 'व्यापक प्रेम करनेसे जगत वशमें होता है इसलिए विश्व भरसे प्रेम करना प्रेमका विस्तार करना चाहिए।' इसका यह अर्थ होता है कि अधिक राग करूँ तो सब मेरे अनुकूल हो जाँय, तब मुझे शातिकी प्राप्ति हो, किन्तु ऐसा होता नहीं, क्योंकि सब स्वतन्त्र हैं। इसलिए पर द्रव्यसे धर्म और शाति माननेवाले परके

आश्रित अपना समाधान करना चाहते हैं उनके सभी सिद्धान्त झूठे हैं, निर्दोष मोक्षमार्गमें तो परसंयोगकी अपेक्षा रहित, रागद्वेष विषय-कषाय रहित, त्रिकाली ज्ञायक हूँ; परसे भिन्न पूर्ण पवित्र ज्ञानमय हूँ, रागविरूप नहीं हूँ शरीरादिकी क्रिया नहीं कर सकता, पुण्यादि पर चीजकी सहायताकी हीनता, अपेक्षावाला नहीं हूँ, अकेला पूर्ण ज्ञान आनन्द स्वभावी हूँ, ऐसी पवित्र दशा प्रकट करनेका जो स्वलक्ष्य की स्थिरतारूप पुरुषार्थ अपनेसे ही होता है। उसमें परवस्तुकी आवश्यकता हो, ऐसी पराधीनता नहीं है क्योंकि प्रत्येक आत्माका ज्ञान स्वभाव सदैव ही स्वतन्त्र है, पूर्ण है। शुद्ध स्वभावकी दृष्टिमें अंश-मात्र भी राग नहीं है, परावलम्बन नहीं है, इतना होतेहुए भी स्वभाव की पूर्ण स्थिरतामें न रह सके तब निर्दोष देव-गुरु-शास्त्र तथा वीत राग धर्मके प्रति विनय-भक्तिरूप झुकाव रहता है। वहाँ भी वीतरागताकी रुचिकी लगन है। उसमें थोड़ा भी रागद्वेष आदरणीय नहीं है तो फिर परका करूँ, न करूँ, ऐसी बात कैसे होय ? क्योंकि कोई आत्मा परका कुछ नहीं कर सकता इसलिए सिर्फ हितरूप सम्यक् मार्ग अपनाना है, स्वाधीन ज्ञातापनमें स्थित रहना, अपना सच्चा हित करना है, उन्हें अपने निर्दोष ज्ञान स्वभाव द्वारा समझना चाहिये कि दोषसे गुण प्रकट नहीं होता, इसलिए त्रिकाली वस्तु स्वरूपको सर्वज्ञ वीतराग कथित नय प्रमाण द्वारा समझना चाहिये।

आत्मा सदैव ज्ञान आनन्दस्वरूप निर्दोष साक्षी है। मैं ज्ञाता हूँ, पूर्ण हूँ, शुद्ध हूँ, ऐसी श्रद्धा वस स्वाधीन पूर्ण स्वरूपका ज्ञान और उसका ही आचरण हो वहाँ थोड़ासा भी क्रोध, मान, माया, लोभ आदरणीय नहीं होते। वर्तमान पुरुषार्थकी कमजोरीसे

अल्प कषायकी अस्थिरता हो यह भिन्न बात है किन्तु हम गृहस्थी हैं इसलिए हमें थोडा रागद्वेप भी करना चाहिये तो ही सब ठीक रहे, यह अभिप्राय मिथ्या है क्योंकि पूर्व पुण्य विना बाह्यकी अनुकूलता नहीं मिलती। वास्तवमें बाह्यकी अनुकूलता है, ऐसा कहना कल्पना मात्र है। मैं घर, समार, देहादिको ऐसे ही ठीक रख सकता हूँ सबको वशमें रख मकता हूँ, पर मुझे सहायक हैं, मैं दूसरेकी सहायता कर सकता हूँ—यह मान्यता अज्ञान है, मिथ्या-दर्शन-शल्य है।

प्राचीनकालमें किसी महान् राज्यका स्वामी एक परदेशी नामका राजा था, किन्तु एक समय ऐसा हुआ कि उसकी रानीने ही उसे जहर दे दिया, ऐसा जानकर भी उसने अपनी स्त्री पर क्रोध नहीं किया और जाना कि इस शरीरका अन्त इसी प्रकारसे होना था। मैं किसी परवस्तुका स्वामी नहीं हूँ, स्त्रीको मेरे शरीरसे लाभ न हुआ माना इससे उसने द्वेपरूप यह कार्य किया। मैं अपना ज्ञानरूप कार्य करूँ, जहर खिलाया यह भी जान लिया। मैं तो असयोगी ज्ञाता ही हूँ ऐसा विचार करते करते राजाने अपने बेहद ज्ञाता पवित्र स्वभाव-की महिमामें स्थिर होकर महापवित्र समाधिदशामें ज्ञानभावमें देह छोडी, किन्तु अपनी राज्यसत्ताका उपयोग नहीं किया। यह उसकी भूल नहीं थी किन्तु ज्ञानीकी विचक्षणता थी, विवेक था। कोई कहे कि मैं पर चीजमें विचारा हुआ काम करूँ, किन्तु कोईका किसी द्वारा कुछ भी नहीं हो सकता। जीव ज्ञानमें स्वको भूलकर मात्र रागद्वेप व कर्ता-भोक्ताका भाव कर सकता है। प्रत्येक आत्मा अपने अनन्त गुणोंयुक्त अनन्त सामर्थ्ययुक्त है। तीनकाल और तीनलोकमें कोई भी परकी क्रिया करनेको समर्थ नहीं है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ

भी कार्य नहीं कर सकता। निमित्तरूपसे कर्ता हूँ ऐसा मानना भी अज्ञान है क्योंकि परको दबानेका कषाय भाव कर तो भी परसे लाभ हानि नहीं हो सकते किन्तु अपने त्रैकालिक स्वभावके लक्ष्यमें ज्ञान स्वभावकी जागृति और शांतिरूप रहे तो निर्मलता प्रकट हो। कोई वस्तु पराधीन नहीं है। प्रत्येक पदार्थ सर्वथा स्वतन्त्र है, भिन्न भिन्न है। अनादि और अनन्तस्वरूपसे अपने आपमें परिपूर्ण है मात्र स्वभावका लक्ष्य करके अनादिकालीन विपरीत अभिप्राय (खोटी मान्यता) दूर करनेकी प्रथम आवश्यकता है।

सच्चा ज्ञानी अन्तरंगसे समाधान करता है और अज्ञानी परमें इष्ट अनिष्ट कल्पना करता है। कुटुम्बमें किसीकी भूल हो जाय तो विवेकसे समाधान करना चाहिये। पतिमें भूल हो तो स्त्री उपेक्षा करती है, सहन करती है, कभी स्त्री भूल कर तो उसका पति जरा भी सहन न करे यह न्याय नहीं है। लौकिक नीति व्यवहारमें सज्जनताका दावा करनेवाला अपने मान्य सिद्धान्तोंके लिये बहुत दुःख सहन करता है और इस नीतिके लिए अन्य सबकी उपेक्षा करता है। इसीप्रकार आत्मधर्ममें व्यावहारिक सज्जनता तो होनी ही चाहिए। अखिल संसारकी क्या स्थिति है, जो यह विवेकसे तथा समझपूर्वक धर्मसे जानता है वह अन्यको दोष दुःख देनेका भाव नहीं करता।

प्रश्न—आपकी बात सच्ची है किन्तु घर संसारमें रह कर ऐसा होना असम्भव है।

उत्तर—पर संयोग किसीका लाभ या नुकसान नहीं करा सकते, अज्ञानसे मानो भले ही। जिसे ऐसा अभिमान है कि यदि

हम क्रोधादि कषाय न करें तो काम नहीं चले, मान, इज्जत अनुकूलता नहीं मिले, लोकमें निर्बल कहलाये, किन्तु उसके ऐसे अभिप्रायानुसार परमें कुछ नहीं होते इसलिये ऐसी मान्यता खोटी है।

१ जिन्होंने तीव्र क्रोध, मान, माया, लोभमें चैतन्यवीर्यको सलग्न कर दिया है, परको दबाया और अनीतिपूर्ण अभद्र आचरण किये हैं वे भयंकर नरकगतिमें नपुंसक हुये हैं। नपुंसक जीवको स्त्री पुरुष दोनोंके कामभोगकी अनन्ती तीव्र आकुलता होती है।

२ जो क्रोध, मान, लोभमें थोडे लगे और जिन्होंने कपट अधिक किया वे तिर्यंच-पशु हुये।

३ जो मन्दकषायके मध्यम भावमें रहे वे मनुष्य हुये।

४ जो शुभ भावमें बढ़े वे देव हुये।

५. जिन्होंने स्वरूपकी स्थिरता द्वारा कषायमें अपना उपयोग सर्वथा नहीं लगाया वे वीतरागी सिद्ध-परमात्मा हुये।

'सब जीव सिद्ध समान हैं ऐसा जो समझता है वह सिद्ध होता है। सिद्ध परमात्माके समान पूर्ण पवित्र शक्ति प्रत्येक आत्मामें निहित है, जो इसे समझे वह वैसा हो सकता है। किन्तु असीम ज्ञानसमता स्वरूपकी पवित्र शांतिको भूलकर क्रोध, मान, माया, लोभरूप विषय-वासनामें लीन होना परवस्तुमें इष्टबुद्धि करना महापाप है, स्वाधीन, स्वरूपकी अनन्ती हिंसा है। क्रोधादि तुच्छ भावोंको धारण करनेमें अपनी हीनता, नपुंसकता है। इसलिए सर्व

प्रथम आत्माके यथार्थ स्वरूपको जानकर परसे इष्ट अनिष्ट मानना व परमें कर्तृत्व व भोक्तृत्व माननेके अभिप्राय बदल कर, ऐसा निश्चय करे कि मेरे नित्य ज्ञान स्वभावमें जरा भी क्रोध, मान, माया, लोभ नहीं है क्लेश ही है इसलिए वे करने योग्य नहीं हैं। हित अहितरूप परिणाम तो अपना ही भाव होनेसे उसे पहचान कर अपने वशमें रख सकता है। किन्तु परका कुछ नहीं कर सकता ऐसे विवेक स्वभावसे निश्चित होनेसे यह निश्चित हुआ कि क्रोधादि दोष द्वारा स्त्री पुत्र आदि ठीक रहें और वशमें रहें, ऐसा मानना झूठा ही है। इसलिए त्रिकाली गुण दृष्टि रखकर अवगुण (दोष) करनेका लक्ष्य स्वप्नमें भी नहीं करना चाहिये। जरा भी क्रोधादि कषाय मेरेमें नहीं है इसलिए इन्हें न होने दूं–ऐसी भावना निरन्तर रखनी चाहिए। अर्थात् स्वसन्मुख ज्ञातापना और उसमें धीरज रखनेका विशेष पुरुषार्थ करना यह अपने अधिकारमें है।

'माया प्रत्ये माया साची मावनी' जैसे ज्ञान स्वभावकी जागृति छिपाकर दूसरेसे कपट भाव किया करता था वैसी प्रवृत्ति छोड़कर मैं अखण्ड ज्ञानस्वभावकी जागृति इस प्रकार रखूं कि किसी प्रकारका कपट अंश आवे तो उससे भिन्न रहूँ, निर्दोष साक्षीभावकी ज्ञानदृष्टि द्वारा जान लेऊं। 'स्वभावकी जागृतिमें अंशमात्र भी कपट नहीं आने दूं, पवित्र सरल स्वभावकी दृष्टि और अहिंसा द्वारा माया (कुटिल) भावको जीत लूं ऐसी मेरी भावना है।

'लोभ प्रत्ये नहि लोभ समान जो' जैसे लोभमें लोभ करने योग्य है' ऐसा ममत्व भाव था, अब मैं इस लोभके प्रति अंशमात्र भी लोभ नहीं रखूं किन्तु निर्लोभतारूप अकषायी सन्तोषभावसे

आत्मामे स्थिर रहूँ परम शांतिमय मेरे आत्मामें तृप्त रहूँ। मैं अनन्त ज्ञान-शांति स्वभावी हूँ। ज्ञानस्वभावमें स्थिरता द्वारा निर्मलता प्रकट होनेसे त्रिकाल और त्रिलोकका ज्ञान प्राप्त होता है, उस पूर्ण आनन्द स्वभावको भूलकर पर संयोगमें सुखबुद्धि मानकर विपरीत हुआ, इससे तीन काल और तीनलोकके परिग्रहकी तृष्णा वढती जाती है किन्तु उस तृष्णाका पेट कभी भरा हो, ऐसा नहीं होता। अज्ञानभाव-में अनन्ती तृष्णा द्वारा जैसे लोभ करनेमें असीमता थी वैसे ही मैं ज्ञानस्वभावमें दृढ होनेसे वेहद सतोपस्वरूप पूर्ण शुद्धताके ज्ञान द्वारा अनन्त ज्ञान एव संतोप रख सकता हूँ। संसारकी वासनाको दूर कर मैं पुण्य पापरहित पूर्ण शुद्ध पवित्रतामें ठहरूँ और नित्य स्वभावका सतोष प्राप्त करूँ ऐसी यह भावना है।

पूर्ण पवित्र सिद्धपद अपनेमें शक्तिरूपमें है, उसकी प्राप्तिके लोभका विकल्प छठे गुणस्थान तक होता है किन्तु दृष्टिमें शुभ विकल्पका नकार है और भविष्यमें 'प्रभुकी आज्ञासे उसी स्वरूप-में होऊँगा' इसका वर्तमानमें सतोष है, अर्थात् ससारके पुण्यादि परमाणुओंकी इच्छा नहीं है किन्तु मोक्षकी इच्छाका विकल्प छूटकर स्वरूपकी स्थिरताकी अपूर्व प्राप्ति कब होगी ? ऐसी यहाँ भावना की गई है।

बहु उपसर्गकर्त्ता प्रत्ये पण क्रोध नहीं,
वंदे चक्रि तथापि न मले मान जो;
देह जाय पण माया थाय न रोममां,
लोभ नहीं छो प्रबल सिद्धि निदान जो ॥८॥

'अपूर्व अवसर'की भावनामें ऐसी रुचिका चिन्तन है कि

उत्कृष्ट साधक दशा प्रकट हो और शुभाशुभ भावोंका क्षय करूं कि जिससे पुनः बन्धनमें न फँसूं। अक्षयक, अबन्ध, अपूर्वदशा द्वारा विकल्पको दूर करूँ अर्थात् मेरी शुद्धदशारूप पुरुषार्थको उग्र करके कर्म उदयकी सूक्ष्म संधिको पुरुषार्थ द्वारा तोड़ दूं, ऐसी उत्कृष्ट साधक दशा कब आवेगी ऐसी भावना यहाँ की गई है। अत्यधिक उपसर्ग करनेवालेके प्रति भी लेशमात्र क्रोध न हो, ऐसी यह भावना है। क्रोधादि कषाय करनेका अभिप्राय नहीं है किन्तु स्वरूपकी स्थिरताकी दृढ़ताका उग्र पुरुषार्थ करूँ ऐसी भावना है।

स्वयं निरपराधी होते हुए भी किसी देव, मनुष्य, तिर्यंच अथवा अचेतन प्रकृति कृत घोर उपसर्गजनित असाताका उदय हो तो भी उसके प्रति लेशमात्र भी क्रोध नहीं करूँ क्योंकि पहले असाता वेदनीयादि अनेक कर्म बांधे हैं, वे अपनी स्थिति अनुसार फल देकर निर्जराको प्राप्त होते हैं, वे अस्थायी हैं, उनसे ज्ञान गुणको कोई हानि नहीं होती। कोई यह माने कि मैंने बहुत सहन किया तो उसकी यह मान्यता झूँठी है क्योंकि ज्ञानका स्वभाव असीमरूपसे जानना है। जिसे केवलज्ञान प्रकट हो वहाँ सब अनन्तको सहज ही जाना जाता है। उस दशाके बिना 'मैंने बहुत जान लिया, सहन किया' ऐसा मानना भूल है। कोई कहे कि कोई मुझे गाली दे मेरी निन्दा करे तो कितनी बार सहन करूँ? सहन करनेकी कोई सीमा तो होनी चाहिए? किन्तु ऐसा नहीं है। सहन करना अर्थात् सम्यग्ज्ञानके कार्यको विषयरूप जान लेना है। अनन्ती प्रतिकूलताके संयोग दिखाई पड़ते हुए भी ज्ञान रुकनेका स्वभाववाला नहीं है, जाननेमें दोष या दुःख नहीं है। जो जैसा है वैसा जानना तो गुण है

उसमें अनन्ती समता है। आत्मा सदैव ही बेहद ज्ञान समताका समुद्र है, पर चीजको जानता हूँ ऐसा कहना व्यवहार मात्र है वास्तवमें स्वयं अपने ज्ञानकी स्वच्छताको अपनेमें जानता है देखता है, पर वस्तु किसीको बिगाडनेवाली या सुधारनेवाली नहीं है।

आत्मा स्वाधीन ज्ञान स्वरूप है। वह रागादि या देहादि परवस्तुरूप तीन कालमें भी नहीं है। एक द्रव्यमें परद्रव्यका कारण कार्यभाव, पराधीनता या परका सहायकत्व तीनलोक और तीनकालमें नहीं है। घासके एक तिनकेके दो टुकडे करनेकी ताकत किसी आत्मामें नहीं है फिर भी कोई ऐसा माने कि आत्मामें ऐसी ताकत है तो उसकी मान्यता झूठी है, उसे स्वतन्त्र ज्ञान स्वभावी आत्माका तथा पुद्गलकी स्वतन्त्रताका भान नहीं है।

जिनकी निमित्त पर दृष्टि है, उन्होंने रागको करने योग्य माना है। मुझे परसे लाभ हानि है ऐसा जो मानता है उसने अनन्त परके साथ अनन्त रागद्वेषको करने योग्य माना है। उनकी विपरीत मान्यतामें तीनो काल रागद्वेप करने योग्य हैं, ऐसा आया किन्तु ज्ञानमें स्वलक्षसे ज्ञानका समाधान करना चाहिए, ऐसा उन्होंने स्वीकार नहीं किया। जिन्होंने सर्वज्ञ वीतरागके न्यायसे यथार्थज्ञान स्वभावको जानकर अनादि अनन्त एकरूप, परसे भिन्नरूप जाननेवाला हूँ ऐसा बेहद, अपरिमित ज्ञान, समता स्वरूपकी प्रतीति की उनका ज्ञान स्वभावका धैर्य किसी प्रकार नहीं छूट सकता। इसलिये गृहस्थ दशामें भी अखण्ड ज्ञान स्वभावकी प्रतीतिमें बेहद समता सहज ही आती है।

ज्ञान तो गुण है, गुणसे दोषकी उत्पत्ति संभव नहीं है। जिन्होंने ज्ञानको अपना स्वरूप स्वीकार किया उन्होंने परसे प्रतिरुद्ध होना नहीं माना। ज्ञानमें जो जैसा है उसे वैसा जान लेना तो गुण है ज्ञानका कार्य जानना है, रागका कार्य पर वस्तुमें इष्ट अनिष्ट कल्पना कर सकना है। ज्ञान तो प्रत्येक आत्माका स्वतन्त्र असंग स्वभाव है, वह किसी भी कालमें जाननेसे समाप्त हो या अटक जाय ऐसा स्वभाव नहीं है।

जिन्हें पर वस्तुमें तीव्र स्नेह है उन्हें तृष्णा और मोह रहित ज्ञानस्वभावी आत्माकी पहचान नहीं है। अमुक मोह दूर किए बिना धर्मके समीप आना नहीं होता। खर्च करनेसे पैसा नष्ट नहीं होता यह न्यायका सिद्धान्त है। सम्यक्त्व भावसे यथार्थ रूपसे प्राकृतिक नियम समझना चाहिए कि दान देनेसे धन नहीं नष्ट होता किन्तु पुण्य नष्ट हो तो धन नष्ट हो। निर्लोभी अकषायी पवित्र आत्मस्वरूप की पहचान होनेके पश्चात् शुद्धात्माका लक्ष्य निरालम्बी ज्ञान-भाव में रहता है, अतः सर्वप्रथम संसारके प्रति अशुभ राग छूट कर सच्चे धर्मकी प्रभावनाके लिये लोभ कषायका त्याग करता है। सच्चे धर्मकी साधना करनेवाले स्थिर रहो अर्थात् मेरा वीतरागभाव वह भाव ऐसी भावनावाले गृहस्थके अशुभसे बचनेके लिये दानादि किया हुए बिना नहीं रहती, परकी क्रियाके साथ सम्बन्ध नहीं है किन्तु गुणकी रुचिमें राग सर्वथा दूर नहीं हुआ इसलिये जो राग रहा उसकी दिशा वह बदलता है किन्तु शुभ रागको (धर्ममें) सहायक नहीं मानता। परसे सर्वथा भिन्न निवृत्ति स्वरूप-ज्ञान स्वरूप हूँ ऐसी

स्वाधीन तत्वकी रुचि रागका नाश करने वाली है इसलिए ब्रह्मचर्य सत्य आदि सद्गुणोंकी रुचि हुए विना नहीं रहती। स्वरूपकी सच्ची पहचान होते ही तुरन्त त्यागी हो जाय ऐसा नियम नहीं है। जिसे सच्ची पहचान हो उसके व्यवहार नीति और पारमार्थिक सत्य प्रकटे विना नहीं रहता। जहाँ पारमार्थिक सत्य है वहाँ व्यवहारमें सत्य वचनादि हो ही। जिसने सत्यका भान किया हो उसे असत् खोटी समझका अंश भी न रहे, यह अटल नियम है।

'वीर्य रुचिका अनुयायी है।' जिसमें जिसका प्रेम हो वह उस इष्टकी प्राप्तिके लिये पुरुषार्थ करे ही, जिसकी रुचि हो उसके लिए मर पच कर भी प्राप्तिका प्रयत्न करे ही, ऐसा नियम है। पराधीनताका दुख देखे तो दोष दुख रहित मैं अकेला हूँ ऐसा विचार करे और अन्य सब की उपेक्षा कर छूटनेका उपाय करे। जैसे कीडा या लट पत्थरके नीचे दबा हुआ भी जीनेके लोभसे शरीर पर बहुत वजन होते हुए भी देहके टुकडे हो जाय ऐसा जोर कर भी बाहर निकलता है। मकोडा किसीके चिपट जाय तो भले ही आधा शरीर टूट जाय किन्तु छोड़े नहीं, ऐसे ही प्रत्येक जीव अपने संकलित कार्य को करता दिखता है। अत यह सिद्ध हुआ कि समझके अनुसार रुचि, रुचि अनुसार वीर्य हो ही। जिसे जिस प्रकारका श्रद्धान निश्चित् हो जाय, वे इष्ट मान ले उसकी प्राप्तिके लिये पूर्ण पुरुषार्थ करे ही, उसके लिये अपनें शरीरकी भी परवाह नहीं करता किन्तु अपने मान्य इष्टकी प्राप्तिके लिए प्रयत्न करे ही। (पर वस्तुको कोई प्राप्त नहीं कर सकता, कल्पनासे मान भले ही ले) लौकिक

कहावत है कि देहका नाश हो तो हो किन्तु इष्ट प्रयोजनकी प्राप्ति करेंगे ही।

इसीप्रकार अनन्त कालकी पराधीनतासे, रागद्वेष अज्ञान भावसे छूटनेका उपाय जिन्होंने अपने ज्ञान स्वभाव द्वारा जान लिया उसकी रुचि क्यों न हो? मैं सदैव ज्ञानादि अनन्त गुणोंसे परिपूर्ण हूँ, शुद्ध हूँ, रागादि पुण्य, पाप, पर उपाधि, विकार आदि मेरेमें नहीं हैं। मैं परसे भिन्न ही हूँ ऐसा जिसने जान लिया वह यथार्थ स्वरूप-की निःशंक श्रद्धामें ज्ञानबल द्वारा, स्वाधीन स्वरूपकी एकाग्रतासे पूर्ण स्थिर पद लेनेके लिए, स्वरूप रसमें लिप्त, लीन हो तो कैसे डिगे? भले ही शरीर छूट जाय किन्तु इस पूर्ण स्वभावकी शुद्धताकी संधि और शुक्ल ध्यानकी श्रेणी न छूटे ऐसा अपूर्व अवसर (अव = निश्चय, सर = श्रेणी सोपानें) कब आएगा ऐसी यह भावना की गई है।

मैं परसे भिन्न त्रिकाली ज्ञान स्वभावरूप हूँ किसी द्वारा रुकनेवाला नहीं, पररूप नहीं हूँ, रागादिरूप नहीं हूँ, दूसरेके प्रति झुकावका अशुद्ध भाव तो एक समय मात्रकी अवस्था जितना है, मैं नित्य टंकोत्कीर्ण ज्ञायक एकरूप हूँ किसी निमित्तकी अपेक्षावाला नहीं हूँ, ऐसा प्रत्येक आत्मा पूर्ण स्वतंत्र भगवान है। सर्वज्ञ भगवानके ज्ञानमें सम्पूर्ण जगतका न्याय निहित है, सम्यक्त्वता पूर्वक स्वतन्त्र स्वभावसे विचारे तो सर्वज्ञके कहे न्यायके अनुसार सारा ज्ञान आत्मामें है। श्रीमद्ने भी यही कहा है—

"बहु उपसर्ग कर्त्ता प्रत्ये पण क्रोध नहिं" 'बहु' शब्द उपसर्गों-की असीमता सूचित करता है, बहु उपसर्गके समय भी बहु क्षमा

स्वभाव जाग्रत है। क्षमा अर्थात् स्वभावसे परिपूर्ण ज्ञान दृष्टिमें किसी-के दोष दिखाई नहीं पड़ते क्योंकि कोई वस्तु दोषरूप नहीं है, भले ही घोर प्रतिकूलताका प्रसंग ज्ञानकी स्वच्छतामें जाना जाय किन्तु उससे ज्ञानीको बाधा नहीं है। अशुभ कर्मके संयोगको ज्ञानी जानता है कि जैसे विपरीत पुरुषार्थ द्वारा विकारी पर्याय पहले अपनाई उस भूलका फल वर्तमानमें दिखाई देता है किन्तु अब मैं त्रिकाली अखंड ज्ञान स्वभावका स्वामी होनेसे भूलरूप परिणमन नहीं करता किन्तु निर्दोष ज्ञाताभावसे भूल रहित स्वभावके भानमें स्थिर होकर भूतकालीन अवस्था और निमित्तका ज्ञान करता हूँ।

ज्ञानी जिन संयोगोंको देखता है उनमें हर्ष शोक नहीं करता। निर्दोष ज्ञान स्वभावका लक्ष्य रख कर भी ज्ञानी अल्प राग द्वेषमें लग जाता है किन्तु उसकी मुख्यता नहीं है, मैं त्रिकाली ज्ञान स्वभावी हूँ इसकी मुख्यता है। ऐसा विचार कर निःशंक स्वभावमें सच्चा अभिप्राय लावो कि मैं राग, द्वेष, मोहरूप नहीं हूँ क्योंकि वे मेरे स्वभाव नहीं हैं, इसलिए कषाय अंश मात्र भी करने योग्य नहीं है, राग द्वेष न होने देऊँ अर्थात् जाग्रत ज्ञान स्वभावकी बेहदतामें स्थिर रहूँ। ऐसा अभिप्राय जाग्रत रखना ही ज्ञानकी क्रिया है। अल्प रागका अंश अभी होता है यह अलग बात है किन्तु हमें राग द्वेष करने पड़ते हैं ऐसा माननेमें तो बहुत अहित है। मैं दूसरोंको समझा दूँ, मेरे द्वारा दूसरे समझते हैं, मेरी सलाहसे सब भली प्रकारसे रहते हैं, इस प्रकार परकी व्यवस्थाका कर्तृत्व एवं ममत्व रखूँ ऐसी मान्यता महापाप है। परका कुछ भी कार्य कर सकूँ यह विपरीत अभिप्राय है

और उस अभिप्रायमें अनन्ती आसक्ति है इसलिए सर्वप्रथम इस अभिप्रायको बदलना चाहिए।

मैं सदा ही परसे भिन्न ज्ञानानन्द स्वरूपी हूँ, ज्ञान सिवा कुछ भी नहीं कर सकता। मैं पराश्रयमें लगनेवाले भावको नित्य स्वभावकी भावना द्वारा दूर करनेवाला हूँ 'पर' मुझे सहायक नहीं हो सकता। मेरा कर्तव्य तो यह है कि राग रहित परावलम्बन रहित ज्ञान करूँ। मैं पूर्ण पवित्र ज्ञान मात्र हूँ ऐसा अभिप्राय मैं निरन्तर बना रहूँ और स्वरूपकी दृढ़ता यही मेरी हितकर है।

भले ही किसीको प्रसंगवश सलाह, सूचना देनेका विकल्प आवे किन्तु उसमें किसी प्रकारका आग्रह ममत्व न होना चाहिये। मेरी बातसे कोई सुधरे या बिगड़े इसका कर्तृत्व ममत्व छोड़ देता हूँ। तत्पश्चात् वह सुधरे या न सुधरे यह उसके भावों पर निर्भर है, मैं किसीको कुछ कर नहीं देता। मैं तीनों कालमें ज्ञान ही करता हूँ ऐसा माननेसे राग द्वेष होनेका अवकाश नहीं रहता, सुधरना तो उसे स्वयंको है। त्रिकाली द्रव्य स्वभावमें कुछ बिगाड़ नहीं होता। वर्तमान एक समयकी अवस्थामें पराश्रय कर जीव नये रागद्वेष करता है यह उसकी भूल है। इस भूलको वह नित्य ज्ञान स्वभावके लक्ष्य और स्थिरता द्वारा दूर कर सकता है। इसलिए समाधान स्वयं को ही करना है, परसे कुछ भी नहीं है। इसीमें अनेक प्रश्नोंका समाधान हो जाता है। मैं दूसरेको शीघ्र समझा दूँ परकी व्यवस्था रख सकता हूँ ऐसी मान्यतायें सब मिथ्या हैं। जिसने अपने आपका सुधार किया उसका सारा जगत सुधर गया जिसने स्वाधीन स्वरूपमें

निजात्माको अविरोध रूपसे जान लिया उसके कोई विघ्न नही है। चाहे अनुकूल या प्रतिकूल बहुत उपसर्ग आवें उनमें ज्ञानको क्या? उपसर्ग चार प्रकारके हैं—देव, मनुष्य, पशु और अचेतन कृत। उनमें किसीके प्रति भी क्रोध नहीं आवे ऐसी भावना है।

कोई माने कि मैं अपने भाई, मित्र, पुत्र, समाज आदिका इतना उपकारी रहा हूँ किन्तु वे फिर भी मेरी निन्दा आदि द्वारा प्रतिकूलता उपस्थित कर मुझे हैरान कर देते हैं, ऐसा मानना भी मिथ्या भ्रम है। ये सब सयोगमें पूर्व कर्म निमित्त हैं, तू उनमें अपने इष्ट अनिष्ट रूप होनेकी कल्पना करता है, निमित्त आत्मामें नहीं हैं तुझे दूसरा जबरदस्तीसे बिगाड़ नहीं सकता।

कोई भी परवस्तु दूसरेको राग, द्वेष, क्रोधादि नहीं करा देती। आत्मा अरूपी, ज्ञानघन, ज्ञानपिंड है उसमें रागद्वेष उपाधिका अश नहीं है, तब परवस्तुके प्रति क्षोभ किसलिए करना चाहिए? जो वस्तु पर है वह सर्वथा भिन्न अपने स्वभावमें स्थित है। ऐसे स्वतन्त्र वस्तु स्वभावको कोई भिन्न जानले तो उसे ज्ञात होगा कि मेरेमें न क्रोध है, न द्वेष है, न हठ है, न उपाधि है।

आत्मा ज्ञाता, साक्षी है, उसमें अरूपी ज्ञानमें प्रीति या अप्रीति आदि विकल्पोंका अश भी नहीं है। परवस्तु किसीके लिए इष्ट अनिष्ट नहीं है, लौकिक जन परवस्तुसे इष्ट अनिष्ट, सुख, दुखकी कल्पना कर लेते हैं और अपनेको राग वाला मानते हैं। किन्तु यदि आत्मा रागादि रूप हो तो राग दूर नहीं किया जा सकता। जीव पर-के कारणसे अपनेको सुखी दुखी मानता है यह भी वास्तविक नहीं

है। यदि जीवको परसे दुःख होता हो तो जीव कभी क्षमा नहीं रख सकता किन्तु ऐसा नहीं होता। आत्मा चाहे तो किसी भी प्रतिकूल संयोगों, प्रसंगोंमें क्षमा, समता, शान्ति रख सकता है, उसमें कोई भी बाधा नहीं दे सकता। निमित्त चाहे जैसा मिले किन्तु उनमेंसे सुलटा अर्थ कर सकते हैं।

पवित्र ज्ञानीकी भी कभी निन्दा नहीं होती है, उनकी निन्दा करनेवाले पुस्तकें भी लिखते हैं किन्तु उनसे आत्माको क्या? कौन किसकी निन्दा करता है?

प्रत्येक अक्षर अनन्त परमाणुओंसे बना हुआ है, वाणी तो परमाणुओंकी अवस्था है। ये निन्दाके शब्द तो तुमको यह कहते नहीं कि तुम द्वेष करो किन्तु अज्ञानी अपनी विपरीत मान्यता द्वारा 'मेरी निन्दा करता है' ऐसा मानकर अपने भावमें द्वेष करता है। किन्तु ज्ञानीको राग द्वेष करनेका भाव नहीं होता तो फिर अन्य कौन करा सकता है? ज्ञानी परवस्तु द्वारा रागद्वेष मोह होना नहीं मानता अपनी निर्बलतासे अल्प रागद्वेष होता है यह गौण बात है।

ज्ञानी जानता है कि निंदात्मक शब्दोंके ढेर रजकण पुस्तक रूप होनेवाले हों तो उनको कोई भी शक्ति नहीं रोक सकती। ऐसा जाननेवालेके चाहे कितने ही परिषह आवो, तब वह क्षमा रखता है। और 'ज्ञाता रहूँ' यही मेरा सहज स्वरूप है, समतास्वरूपकी स्थिरता बढ़ानेकी उत्तम कसौटीका यह समय है, सामनेवाले जीव मुझे दुःख देनेमें निमित्त होते हैं, ऐसा विचारकर वह उनसे द्वेष न करे किन्तु उनकी अज्ञान दशा देखकर करुणा करता है किन्तु किसीके प्रति द्वेष या क्रोध नहीं करता वह ऐसी समता रखता है।

जीव जब तक परवस्तुमें कर्तृत्व-ममत्व मानता है और पर-से भिन्नत्व नहीं समझता तब तक वह उसमें कर्त्तापनेका अभिमान और रागद्वेष करेगा तथा परका कर्त्ता भोक्ता हूँ ऐसी कल्पना करेगा। पर सम्बन्धी विचारा हुआ वैसा कभी होता नहीं और विपरीत मान्यतासे रागद्वेष दूर नहीं होता। इसलिए सर्व-प्रथम निज-पर स्वरूपको जानो उसका अभ्यास, अध्ययन, श्रवण, मनन करो। सच्ची समझ बिना मिथ्या खतौनी-विपरीत मान्यता होगी। लोग ऐसा सोचते हैं कि यह मेरा लड़का होकर, मेरा भाई होकर, सीमासे बाहर ऐसा अहित कैसे करे? किन्तु भाई! संसारका ऐसा ही नियम है यह कोई नवीनता नहीं है और अपना दुःख हटानेका सच्चा उपाय एकमात्र आत्मज्ञान है। लोकमें बाहरी वस्तुको इष्ट मानकर स्थिर रखनेके लिए कितना उत्कृष्ट सावधान रहता है तो फिर जिसे सच्चे हित (आत्म-स्वरूप)की प्राप्ति हुई उसमें किसी भी प्रकारका विघ्न कैसे आने दे? नहीं ही आने दे।

अकषाय दृष्टि द्वारा कषाय दूर करनेकी यह भावना है। चाहे प्रतिकूल प्रसंग उपस्थित हों किन्तु उनके उपस्थित करनेवालोंके प्रति क्रोध नहीं क्षमा अर्थात् 'मैं अपनेको क्षमा करता हूँ'। बाह्य निमित्तको दूर करना नहीं है क्योंकि दूर करनेसे दूर होते नहीं किन्तु उनके सम्बन्धका निर्दोष ज्ञान होता है अथवा रागद्वेष हो सकता है किन्तु निमित्तोंको दूर करनेकी किसीकी सामर्थ्य नहीं है किन्तु क्षमा बनाये रखनी यह अपने पुरुषार्थके अधीन है, अज्ञानी पर निमित्तोंको दूर करना चाहता है किन्तु उनका दूर होना जीवके अधीन नहीं है। इसलिए कोई परमें पुरुषार्थ नहीं कर सकता और उससे शान्ति नहीं

मिलती। धर्मात्मा निमित्तका लक्ष्य नहीं करता, वह स्वयं ही समता-भाव, क्षमा स्वभावको धारण करता है।

विरोधी जीवको क्रोध करनेसे रोकना इस जीवके सामर्थ्य की बात नहीं है किन्तु अपनेमें सहज-स्वभावमें समता करूँ, यह मेरी स्वसत्ताकी बात है। घाणीमें पलते तो भी अशरीरीभाव बनाये रखनेकी बात है, उत्कृष्ट साधक दशाकी भावना है, इसीलिए उत्कृष्ट परिषह की बात की है, यह सहज वीतराग दशाकी भावना है। निर्ग्रन्थ मुनिदशामें निरन्तर आत्म-समाधि जब होती है तब बाहर क्या होता है इसकी उन्हें सुध भी नहीं रहती। कौन बोले? कौन सुने? कौन समझावे? ऐसी मध्यस्थ वीतराग भावना सच्चे स्वरूप की पहचान करनेसे होती है। पर निमित्तको दूर करना, रखना या उनमें मेल मिलाप करना या परिवर्तन करना चेतनके अधिकारमें नहीं है, इसलिए उसका ऐसा निर्णय कर एक बार सच्चे अभिप्रायकी स्वीकारता तो करो! आत्माकी स्वाधीनताको स्वीकार कर मजबूती लाओ तो रागद्वेष करनेका उपाधि भाव (बन्धभाव) पूर्णतया टल जायगा। जो कार्य आत्माके हाथ है और करने योग्य है उसे ही करना, ज्ञानीका आशय है। अज्ञानी बाह्य संयोगोंको दूर करना चाहता है और उससे रागद्वेष, मोह करता है किन्तु सम्यग्ज्ञानी धर्मात्मा मानता है कि अपने आश्रित ज्ञान परिणमन है वह उसके द्वारा समता स्वभाव में परिणमता है इसलिए वह सहज ही रागद्वेष विषय-कषायको जीतता है।

कभी घोर असाताके उदयमें (जैसे शरीरको घाणीमें पेल देनेका) घोर उपसर्ग आवे तो भी ज्ञानी उस क्षेत्र सम्बन्धी राग-

द्वेष रहित ज्ञान करता है, वह उसे जानता अवश्य है किन्तु वह जानने में अटकता नहीं। जो परमाणु छूट जाते हैं वह उनका ज्ञान वर्तता है। जिसे आत्माकी श्रद्धा है वह उत्कृष्ट प्रतिकूल प्रसंगोंमें भी खेद नहीं करता, अंतरंगमें क्षोभ नहीं करता, ऐसी उसके ज्ञानकी दृढता होती है। जब तक वह गृहस्थ अवस्थामें है तथा पुरुषार्थमें निर्बल है तब तक ज्ञानी होते हुए भी थोडी अस्थिरता हो जाती है किन्तु अभिप्रायमें वह अशरीरी वीतराग भावका लक्ष्य है और उसे प्रकट करने की भावना करता है। पहले महान मुनिवर हो चुके हैं, वे चाहे जितने उग्र परिषहमें भी अपूर्व समता–समाधि भावकी सहज शांतिमें झूलते हुए ज्ञानकी रमणतामें स्थिर रहे।

'देह पेली जाती है' ऐसे विकल्पको भी छोड़कर उन्होंने ज्ञानघन वीतराग दशा रखी। जिसमें रागद्वेषके विकल्पोंका प्रवेश न हो ऐसी अपूर्व साधक दशा शीघ्र आवे, ऐसी भावना वह रखता है। ऐसा धर्मात्मा गृहस्थाश्रममें था या आत्मामें ? स्वरूपकी यथार्थ जागृतिके भान द्वारा अपूर्वताका यह संदेश है, अंतरंगमें आत्मबल द्वारा स्थिरता में अधिकता रहते और वीतराग स्वभावको सिद्ध कर उसी रूप होने की भावना की गई है, ऐसी भावना करनेवालेके निःशंक अभिप्राय में अपने आगेके भवका अभाव दिखता है।

गृहस्थ दशामें भी दृढ़तर सम्यक्त्व हो सकता है, इसका परिचय करे तो समझमें आवे। लोगोंको बाह्य संयोगकी सावधानी की ओर लक्ष्य रहता है कि ऐसे संयोग होना चाहिए और ऐसे नहीं चाहिये। किन्तु ज्ञानीको ऐसा अभिप्राय नहीं होता अनुकूल–प्रतिकूल

संयोगोंमें ज्ञानी राग या द्वेष नहीं करता। यहाँ अशरीरी, अतीन्द्रिय ज्ञान-आनन्दमय भावकी महिमा बताई है, 'धन्य हैं वे मुनिवर जो सममावी रहे।' जिसके अंतरंगमें उत्कृष्ट साधक दशाकी रुचि यथार्थ रूपसे जमी हो उसकी ऐसी भावना होती है।

'वंदे चक्री तथापि न मळे मान जो" वह छखंडका अधिपति चक्रवर्ती महावैभवशाली होता है उसकी हजारों देव सेवा करते हैं वह ४८ हजार पाटण, ७२ हजार नगर, ९६ करोड़ पदातियोंका स्वामी होता है।

ऐसा राजा वर्तमानमें महाविदेह क्षेत्रमें विद्यमान है, जहाँ सनातन जैन निर्ग्रन्थ मुनि धर्म हमेशा रहता है। चक्रवर्ती सम्राट अपने विशाल वैभवके साथ मुनिकी वन्दना करनेके लिए आता है और परम विनय-वंदना पूर्वक उनकी स्तुति करता है "हे मुनिराज आप बहुत ही पवित्र अवस्थामें हैं" और उनकी अत्यन्त विनयसे वंदना करता है किन्तु मुनिको इससे मानका अंश भी नहीं होता। जिसको जो रुचे वही वह करे, इस न्यायके अनुसार गुणका आदर करनेवालेके गुण रुचते हैं। वह उसके अपने ही कारणसे है और यदि कभी निन्दा करनेवालेको दोष दिखाई पड़े तो वह भी उसीके कारणसे है। इसलिए मुनिको परके सम्बन्धमें कोई विकल्प नहीं है। जो चैतन्य आनन्द मूर्ति भगवान आत्मामें अपनी ज्ञानानन्दकी सहज समतामें महासुख मानकर पूर्ण स्थिरतामें, एकाग्रतामें स्थित है—उसे स्व स्वरूपसे बाहर निकलना कैसे रुचे ? नहीं रुचे।

मुनि अवस्थामें जो पवित्र दशा प्रगट प्रकट आती है उस

उत्कृष्ट साधक दशाके प्रति इस गाथामें आदर व्यक्त किया गया है। यह दशा अपने वर्तमानमें नहीं है इसलिए उसके प्रति अपनी रुचि व्यक्तकी है अपनेमें पात्रता है और उस दशाके प्रति आदर है इसलिए पूर्णताके लक्षसे यह भावना की गई है। जिसे यथार्थ स्वरूप-की पहचान है ऐसा सम्यग्दृष्टि ऐसी भावना करता है।

"लही भव्यता मोटू मान, कवण अभव्य त्रिभुवन अपमान"
तीर्थंकरदेव सर्वज्ञ भगवानकी धर्म सभामें किसी जीवके लिए यह ध्वनित हो कि वह भव्य है तो उसके समान जगतमें दूसरा क्या सम्मान होगा ? किसी जीवके लिए सहज वाणीमें आया कि 'यह जीव अपात्र है' तो जगतमें उससे अधिक भारी अपमान और क्या समझना चाहिए। साक्षात् सर्वज्ञ भगवानकी वाणी किसी जीव विशेष-को लक्ष्य कर कहे कि यह जीव सुपात्र है। अहो धन्य ! जगतमें इससे अधिक भारी सम्मान और क्या ? जब गौतम स्वामी समवशरण (धर्म सभामें) प्रविष्ट हुए और मानस्थम्भ पारकर प्रभु (महावीर स्वामी) के सम्मुख गए कि प्रभुकी दिव्य ध्वनि हुई "अहो ! गौतम भव्य है" ऐसा साक्षात् दिव्यध्वनिमें प्रथम स्थान गौतमको मिला।

तीर्थंकर भगवानके केवलज्ञान प्रकट हुआ था तब भी ६६ दिन तक वाणी व्यक्त नहीं हुई। सर्वज्ञ भगवान तो वीतराग हैं उनके इच्छा नहीं है किन्तु भाषा रजकणोंका प्राकृतिक योग ऐसा था कि लोकोत्तर पुण्यवान गणधर पदवी पाने योग्य जीवका उपादान जब तक प्रभुके सम्मुख नहीं होता तब तक तीर्थंकर भगवानकी वाणी दूसरेको निमित्त नहीं हुई।

सौ इन्द्र, लाखों देव आदि असंख्यात प्राणी भगवानके दर्शन व वाणी सुननेके लिए आए, इन्द्रने भी भगवानकी भक्ति की किन्तु ६६ दिन तक भगवानकी वाणी नहीं खिरी और गौतमके सम्मुख आते ही दिव्यध्वनि व्यक्त हुई। उस समय भी गौतमको अपने बड़प्पनका अभिमान नहीं हुआ किन्तु वह प्रभुके सम्मुख दीनता एवं नम्रतासे विनय पूर्वक झुक गया, मुनिपदकी प्रतिज्ञा कर ध्यानमें लीन होगया और तुरन्त ही सातवीं अप्रमत्त भूमिका निर्विकल्प दशा और चौथा मनःपर्यय ज्ञान प्रकट हुए और उन्हें गणधर देवकी पदवी मिली।

साक्षात सर्वज्ञ परमात्मासे नीचली पदवी गणधरदेवकी है, ऐसी पदवी पाकर भी गौतम अत्यन्त निर्मानतासे कहते हैं कि 'धन्य प्रभु' आपकी दिव्य वाणीका भी वन्दन करता हूँ, 'धन्य प्रभु! आपका वीतराग मार्ग। क्या पूछूँ? सब समाधान हो गया धन्य प्रभु! आपके अपूर्व उपकारी वचन सुनते ही भव्य जीवोंके सम्पूर्ण सन्देह मिट जाते हैं।' और वे निरभिमान भावसे आत्मामें स्थिर हो जाते हैं। उस अनन्त उपकारका वाणी द्वारा क्या वर्णन करूँ? गणधर देवको ऐसी उत्कृष्ट साधक दशा है पांचवें ज्ञान (केवल) प्रकट करनेका पुरुषार्थ है। ऐसी निर्मानी निर्ग्रंथ दशाका अपूर्व अवसर मुझे कब मिलेगा? ऐसी भावना भाई गई है।

मोक्षमार्ग प्रकट करनेवाला यह निर्ग्रंथ मार्ग ही है अन्य नहीं है, चक्रवर्ती राजा, मुनिका बहुत सम्मान करते हैं, हजारोंका जन-समूह अनेक राजा महाराजा सपरिवार आकर उनका दर्शन करते हैं किन्तु मुनिको उनका अभिमान नहीं होता, क्योंकि वे जानते हैं कि

आत्माका मान शब्द या विकल्पसे नहीं होता, वह तो अपने भावका फल है। कोई निन्दा या स्तुति करे तो वह नामकर्मकी प्रकृति है उससे मुझे हानि लाभ नहीं है ऐसा माननेवाले मुनिवर धन्य हैं।

"देह जाय पण माया थाय न रोम मां" साधक दशावाले मुनि पूर्ण शुद्धताके पुरुषार्थमें लीन रहते हैं, उस समय कभी देह नाशका प्रसग आवे, कभी घोर परिषहका प्रसग आवे तो भी वे देहके प्रति अश मात्र भी ममता नहीं करते, वे पुरुषार्थकी स्थिरतासे छूट कर रागद्वेषमें नहीं अटकते, जहाँ सरल पुरुषार्थ हो उसमें कुटिलता नहीं होती, निराबाध पुरुषार्थ पूर्णताके लक्ष्यमें चालू रहता है। उन्होंने पूर्ण केवलज्ञान ऊपर ही सुनिश्चल दृष्टि डाली है अर्थात् उसमें अपने पुरुषार्थको लगा कर सतत, अबाध स्थिरतामें लीन रहते हैं। इस बीचमें यदि देह नाशका प्रसग आ जाय तो भी पुरुषार्थकी गति नहीं बदलती, मोहभाव या मायाका अश भी नहीं आता, कभी भी पुरुषार्थकी वक्र गति नहीं होती। 'ऐसे वीतराग भावका पुरुषार्थ जिस कालमें प्रकट करूँगा वही स्वकाल धन्य है। ऐसी भावना यहाँ की गई है।

"देह नाशके समय भी मेरा अतीन्द्रिय, पुरुषार्थ, सतत्-निराबाध रहो। देहका विकल्प भी नहीं रहे। कभी घोर उपसर्ग हो तो अपूर्व समाधिमरण (पण्डित मरण)की जागृति बढ़े, देह जाते हुए भी मेरे रोममें भी माया न हो। किसी भी कालमें स्वभाव परिणतिकी गति विपरीत न हो। ऐसा अपूर्व अवसर कब आवेगा ? ऐसी यह भावना है।

"लोभ नहीं छो प्रबल सिद्धि निदान जो" वचन सिद्धि, अणिमा आदि लब्धिके प्रकट होने पर भी उन्हें उपयोगमें लेनेका

विकल्प भी नहीं आता। नवकोटि विशुद्ध ब्रह्मचर्य निष्परिग्रह, सत्यव्रत, अहिंसा आदि सयम भावना गुण वीतरागता, समता बढ़ने पर महा पुरुषार्थके—ऋद्धियाँ (वचनसिद्धि, अणिमा, महिमा आदि) प्रकट होती है, किन्तु वे सिद्धियाँ प्रकटी हैं या नहीं यह देखनेके लिए उपयोग नहीं लगाऊँ ऐसी भावना है। मेरेमें अनन्तसुख है, मैं सर्व आनन्दघन सिद्ध हूँ, इसमें यह पुण्यकी लब्धिका किसलिए विचार ? अमृत जैसे उत्तम आहारका खाने वाला, मल (खाने) का विचार नहीं करता उसीप्रकार मुनिको पूर्ण शुद्ध आत्माके सिवाय अन्य रागादि करनेका विचार नहीं होता। पूर्ण शुद्ध निजपद न प्रकटे तब तक एक समय भी प्रमादमें लिप्त होऊँ तो बहुत हानि है ऐसा जिसने जान लिया है और पूर्ण होनेकी दृढ़तर रुचि जिसकी बढ़ती जाती है वह अपने पुरुषार्थको उपाधिमें कैसे लगावे ? नहीं ही लगावे। किसी मुनिके थूक या मूत्रमें भी लब्धि होती है किन्तु वह पुण्यकी लब्धि है या नहीं, इसका आत्मार्थी विचार नहीं करते। जहाँ पूर्ण निर्लोभ और वीतराग दशाका पुरुषार्थ दृढ़ है—वहाँ किसी पर निमित्तमें अटकना नहीं बने; विशेष बलवान सिद्धि प्रकट होने पर भी उसके सम्बन्ध में विकल्प नहीं हो ऐसी स्थिरताका अपूर्व स्वसमाधि योग कब आवेगा ? ऐसी यह भावना है ॥८॥

नग्न भाव, मुंडभाव सह अस्नानता,
अदंतधोवन आदि परम प्रसिद्ध जो।
केशरोम नख के अंगे शृंगार नहीं,
द्रव्यभाव संयम मय निर्ग्रन्थ सिद्ध जो ॥९॥

वह अपूर्व अवसर धन्य है जब देह मात्र संयमके लिए ही हो, नग्न रहे वस्त्र नहीं, द्रव्य और भाव दोनोंसे नग्न निर्ग्रंथ हो, अंतरंगमें देहादिकी आसक्तिका अभाव-अनासक्ति और बाह्यमें प्राकृतिक दिगम्बर देह भी विरागी अर्थात् जगतकी लालसाका प्रतीक नहीं, देहके प्रति राग नहीं, इसलिए रागके निमित्त वस्त्र भी नहीं हो। जिसे शरीरकी कुशलताके प्रति आसक्तिका भाव नहीं है, जो अशरीरी भावमें रहता है ऐसे मुनिके मात्र देह संयम हेतु ही होती है। २६वे वर्षमें श्रीमद्‌ने ऐसी भावना भाई थी। हठसे कुछ नहीं होता किन्तु राग दूर करते ही बाह्य कृत्रिमता दूर हो जाती है। सर्वप्रथम उनकी दृष्टिसे देहके प्रति ममत्त्व भाव दूर होता है। नग्नभावसे, बाह्यांतर निर्ग्रंथताकी भावना बढाते हैं, ऐसी मुनि दशा द्रव्य-भावसे प्रकट करूँ कि मेरे अविकारी चैतन्य स्वरूपके-अंतरंग-पुण्य पाप नहीं, अस्थिरता भी नहीं, और बाह्यसे वस्त्र भी नहीं, ऐसी साधक दशा बिना मोक्षदशा नहीं प्रकटती। यहाँ आसक्तिका सर्वथा निरोध करनेका दृढतर अभिप्राय प्रगट होता है।

१२ वीं गाथा तक मुनित्वकी भावना की गई है कि मेरे पूर्ण स्वरूपमें स्थिर रहनेका उत्साह (स्वरूपमें सावधानी) रहे किन्तु उसमें असावधानी (प्रमाद)का अंश भी न हो।

प्रतिकूलता की अग्निरूप वासनामें साधकको जलना नहीं है और अनुकूलताकी बरफरूप आशामें गलना नहीं है, ऐसी अंतरंगमें परम उदासीनता होनी चाहिए। ध्याता, ध्यान ध्येयका विकल्प छूटकर पूर्ण स्थिरता रहे ऐसी दशा कब आवेगी ? ऐसी भावना है।

'मुण्डभाव' अर्थात् मस्तक, दाढी आदिके केश बहु बढाना

नहीं, कटवाने नहीं, (मुंडन दस प्रकारका होता है।) देहकी आसक्तिका अभाव (अशरीरी भाव) जब होता है तब इन्द्रियों और विषय कषायोंका मुंडन हो ही और बाह्यमें भी मुंडन हो, ऐसा ही निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। पाँच इन्द्रिय, चार कषाय और केश लुंचन (शरीरकी शोभाका त्याग) यह दस प्रकारका मुंडन है पाँच इन्द्रियोंका विषय सम्बन्धी राग द्वेष मोहकी रुचिका नष्ट कर देना तथा क्रोध मान, माया, लोभको त्याग देना इस प्रकार कषाय भावका मुंडन होनेसे विभाव फिर विकसित नहीं होवे। उनका मूलसे विनाश ही ऐसी भावना है। जहाँ निर्ग्रंथ साधक दशा हो वहाँ बाह्यसे केश लुंचनका निमित्त कार्य भी अवश्य हो ऐसा सनातन नियम है। किन्तु कालकी महिमा है कि वीतरागमार्गसे विपरीत वेषधारी साधु जगतमें प्रकटे और वे कहते हैं कि "उस्तरेसे बाल कटाओ, स्नान करो, वस्त्र पहनो।" किन्तु भाई रे! जो सनातन निर्ग्रन्थ मुनि धर्म है उसमें अपनी बुद्धिसे अन्य विपरीत कथन करना या मिला देना अनन्त ज्ञानीसे प्रतिकूल है। अपनेसे ऐसा पुरुषार्थ न हो सके यह बात अलग है और मान्यता ही विपरीत बनाना यह अलग बात है। यह त्रैकालिक नियम है कि मुनिधर्म निर्ग्रन्थ ही होता है। बाह्य वस्त्रादि परिग्रहसे रहित और अभ्यन्तर मिथ्यात्व, रागादि, कषायसे रहित इसप्रकार द्रव्य और भावसे अनासक्ति हो तब शरीरमें नग्नत्व हो ही यह त्रैकालिक मार्ग है। किसी प्रकारके शस्त्र या अस्त्र बिना हाथ द्वारा ही केशका लोचन करनेका व्यवहार है, बाह्य निमित्त ऐसा ही होता है। त्रिकाल सर्वज्ञके शासनकी एक ही विधि है उसमें अन्य मार्ग कैसे हो सकता है? अभिप्रायमें भूल हो तब सारे तत्त्वकी

हानि है, नव तत्त्व क्या है ? मोक्षमार्ग क्या है ? उसकी श्रद्धा बिना आगे बढ सके ऐसा कोई माने तो अनन्त ज्ञानियोंसे अधिक होना है। यदि कोई अपने वीतराग मार्ग मुनिधर्ममें नहीं रह सकता हो तो यह कहे कि मैं नहीं रह सकता। जिनशासनका धर्म तो यही है। जो इसकी सच्ची प्ररूपणा करता है वह अविरोध मार्गको बनाए रखता है किन्तु जो अपने मनमाने अभिप्राय जिन शासन धर्मके विरुद्ध प्रकट करे तो उसने सनातन मार्गका विरोध किया है अथवा अपना ही विरोध किया है।

अनन्त ज्ञानियोंने जिस न्यायको कहा है उस न्यायका विचार किए बिना कोई उससे विपरीत अनुमान करे तो करो। किन्तु उससे सच्चे मार्गको कोई बाधा नहीं आती। लोगोंको शरीरके प्रति बहुत ममता है इसलिये अपनी बुराइयोंको छिपानेके लिये कुतर्क करते हुए कहते हैं कि वस्त्र तो मुनिकी शीत उष्णसे रक्षा करते हैं इसलिए वस्त्र सयमके साधक हैं इसलिए इस कालमें ऐसा होना चाहिये ऐसा हमें लगता है, किन्तु जो मार्ग जिनेन्द्रदेवने कहा है उसकी प्रतीति और यही नग्न निर्ग्रन्थ साधक दशा है उसके बिना मोक्ष मार्ग नहीं है। चाहे स्वय मुनिधर्ममें न रह सके किन्तु सनातन वीत-रागमार्गकी श्रद्धा और न्यायमें अन्यथा नहीं मानना। उक्त प्रकारकी साधक दशा ही मोक्षका कारण है। पूर्ण शुद्ध आनन्दघन आत्माको प्रकट करनेका प्रयोग तीनों काल यही है, अन्य नहीं।

प्रश्न—देश कालके कारण उसमें कुछ परिवर्तन नहीं हो सकता क्या ?

उत्तर—नहीं, क्योंकि —

एक होय तीनों कालमें परमारथका पंथ।

(आत्मसिद्धि पद ८६)

'मैं पूर्ण शुद्ध हूँ' यह निश्चय (परमार्थ) है और रागद्वेष दूर कर स्थिर होनेका पुरुषार्थ ही ज्ञानकी क्रिया का व्यवहार है। जब अन्तरंगमें विरक्ति हो तब बाह्य निमित्त भी तदनुकूल होते हैं। परम उपशम भाव, वैराग्य भाव वाले जीवके शरीर भी स्नानादि संस्कार रहित सूखा एवं विरक्त होता है यह प्राकृतिक निमित्त नैमित्तिक योग है। तीन कालमें परमार्थका एक ही मार्ग होता है। अनन्त काल पहले भी गुड़ और आटाकी सुखड़ी (एक गुजराती मिठाई) बनाते थे आज भी उन्हीं तीन वस्तुओंसे सुखड़ी बनाते हैं किन्तु उनकी एवज में पेशाब मिट्टी और बालूकी सुखड़ी कोई नहीं बनाता। अनन्त काल पूर्व जिस प्रकार से जैसी सुखड़ी होती थी उसी प्रकार से तीन कालमें होती है। किन्तु हां पुराने घी, गुड़ और आटा का रस करने से मिठास सहज ही घट जाता है किन्तु उसकी जाति तो वैसी ही बनी रहती है, कोई इससे विपरीत कहे या माने तो जैसे वह मिथ्या है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और राग रहित ज्ञानकी स्थिरता रमणतारूप वीतराग चारित्र रूप मोक्षमार्ग त्रिकाल अबाधित एवं सनातन है। वीतराग दशा वाले साधक मुनिका दिगम्बर स्वरूप भेष तीनों कालमें एक ही प्रकारका होता है उसका कोई अन्यरूप बताए तो वह मिथ्या है। २४६० वर्ष पूर्व इस भरत क्षेत्रमें मुनि धर्म ऐसा ही था उस समय हजारों मुनियोंके संघ थे। उस समय साक्षात् शुद्ध चिदानन्द, आनन्दघन चैतन्यमूर्ति, ज्ञानपुंज भगवान तीर्थंकर देव सर्वज्ञ प्रभु इसी क्षेत्रमें विराजमान थे। उनके बाद कितने ही वर्षों

बाद १२ वर्षीय दुष्कालमें वीतराग धर्मके नाम पर शिथिलाचारी धर्म चला वह अवसर्पिणी कालकी महिमा है। उस कालका आकार सर्पवत् है। सर्पका शरीर पहले पुष्ट मोटा होता है, तथा पूंछकी तरफ पतला होता जाता है उसी प्रकार अवसर्पिणीमें धर्म का प्रथम उन्नत काल होता है किन्तु वह कालकी वृद्धिके साथ साथ धर्मका ह्रास होता है किन्तु सर्वथा अभाव नहीं होता। वर्तमान पञ्चम कालके अन्त तक चैतन्य शक्तिके विकास करने वालोंकी संख्या घटती जाती है किन्तु सर्वथा अभाव नहीं होता । यदि गृहस्थ हो तो पुरुषार्थकी मदता हो किन्तु श्रद्धामें अर्थात् सच्चे अभिप्रायमें मुनि तथा गृहस्थके अन्तर नहीं होता, एक ही सनातन निर्ग्रंथ मार्गकी श्रद्धा होती है।

कोई कहे कि द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव बदले उसी प्रकार धर्म भी बदले तो वह बात झूठी है। सम्यक्‌दर्शन, सम्यक्‌ज्ञान और सम्यक्‌चारित्रकी एकता ही मोक्षमार्ग है। स्वच्छन्द वृत्तिको कोई सुधरा हुआ माने तो न्याय नहीं है किन्तु कुतर्क एव विपरीतता है। निर्ग्रन्थ मुनि धर्म न पाल सके तो अपनेको गृहस्थ पद माने, गृहस्थ रहे किन्तु अभिप्रायमें (श्रद्धामें) उल्टी मान्यता एव विपरीत प्ररूपणा न करे। अपनेको वीतरागका मार्ग समझमें न आवे या न रुचे उससे सनातन मार्गको शिथल नहीं बना लेना चाहिये। जैनधर्मानुसार तीनों कालमें नग्न दिगम्बर निर्ग्रन्थ दशा युक्त साधक अवस्था रूप मुनि मार्ग ही केवलज्ञान प्रकट करनेका प्रयोग है। वर्तमान कालमें पच महाविदेह क्षेत्रमें तो अन्य मार्ग नहीं है और इस क्षेत्रमें भी मोक्षमार्गका प्रयोग मंद हुआ इसलिए कोई मूल जैन धर्मको अन्य

प्रकार कहा जाता नहीं। सनातन मार्गसे विपरीत माननेमें अनन्त ही भारी अहित है।

यहाँ 'मुडभाव'का अर्थ मस्तकके बालोंको हाथसे उत्पाटन करना है। भावमें मुग्धता यह 'लोंच'का निश्चय अर्थ है। मैं ज्ञानानन्द पवित्र शुद्ध वीतरागी हूँ ऐसी श्रद्धा, स्वानुभव (स्वसन्मुखता) आत्मामें विशेष स्थिरता होनेसे अशरीरी (निर्विकार) भाव रहता है तब सहज ही बाह्य अभ्यंतर निग्रन्थपणा होता है।

'नग्नभाव, मुडभाव सह अस्नानता' मुनि अपने शरीरको जलसे साफ नहीं करते, सन्त मुनियोंका मार्ग अस्नानवाला ही है, वीतराग दशाका साधक जिनमुनि गीले वस्त्रसे भी शरीरको साफ नहीं करता। स्नान शृंगारमें गिना जाता है जो मुनिदशामें नहीं होता, अब कोई कहने लगे हैं कि थोड़े पानीसे स्नान करना ठीक है किन्तु ऐसा कहना अनुचित है। यथार्थ तत्त्व दृष्टिसे, न्यायपूर्वक मुनिका मार्ग तीनों कालमें नग्न ही होता है उसमें कोई अपवाद, शिथिलता —विपरीतता नहीं होती। लोकोत्तर मार्ग और अतीन्द्रिय साधक दशाके पुरुषार्थकी हद क्या है? आंतरिक अनुभव बिना उसकी जानकारी कैसे ही नहीं मिलती, जैसे विषयसेवी ब्रह्मचर्यका महत्व नहीं समझता।

विषय कषायका कीड़ा शरीरको पाकर अच्छे वस्त्र पहनता है। जब कि वीतराग दशाको साधनेवाला ब्रह्मचारी मुनि जीवन पर्यंत स्नान नहीं करता। निर्दोष मुद्रावाला मुनि बाह्य और अभ्यन्तरसे सुन्दर और पवित्र है। मुनिका स्वच्छ विरागी शरीरको देखते हुए भी वह महान् पवित्रताकी निधि हो ऐसी सौम्य मुख मुद्रा दिखती है।

स्नान करनेका विकल्प भी उनके नहीं है। मृत्युशरीरकी शोभा क्या ? मलके ढेरके ऊपर शोभा करने की कोई इच्छा नहीं करता उसी प्रकार मुनिको शरीरकी शोभा करनेकी इच्छा ही नहीं होती। साधारण बुद्धिवालोंको ऐसा समझना असम्भव लगता है।

जैनधर्म वह लोकोत्तर मार्ग है जिसका परिचय किये बिना वह समझमें नहीं आता, समझे बिना कुतर्कसे पार पड़े ऐसा नहीं है। छह खण्डका स्वामी चक्रवर्ती भी राज्य छोड़कर नग्न मुनि होकर बिहार करने लगता है, वह देहादिकी ममता छोडकर वीतराग समाधिमें स्थिर चैतन्य ज्ञानपिंडके सहज आनन्दमें लीन हो जाता है, ज्ञान, ध्यान, वीतरागतामें मस्त रहता है, क्षण क्षणमें छठा ७ वां गुणस्थान पलटता रहता है, सातवें गुणस्थानमें ध्याता, ध्यान और ध्येयका विकल्प छूटकर परम समता–समाधिमें स्थिर होकर प्रस्तर-की मूर्ति जैसा हो जाता है, (जैसे तपाए हुए शुद्ध सुवर्णका ताजा लहलहाता ढेला ही पडा हो) तथा जैसे गम्भीर महासागरमें मध्यबिंदु से लहरें उछलती हों वैसे ही एकाग्रतामें-स्वरूप लीनतामें ऐसा उग्र पुरुषार्थ उछलता है, ऐसा आभास होता है कि हमने केवलज्ञान प्राप्त किया या करनेवाले हैं। ऐसी उत्कृष्ट दशा कैसी होगी, इसका विचार करे।

जैसे समुद्रमें लहर अन्दरके मध्यबिन्दुसे ही आती है वैसे ही चैतन्य भगवान आत्मा ज्ञान समुद्र है उसे किसी बाह्य सहायताकी आवश्यकता नहीं किन्तु अन्तरमेंसे ही पुरुषार्थ प्रकट होता है। साधक ऐसी अप्रमत्त भूमिकामें अपूर्व पुरुषार्थ सहित अपने स्वरूपके उत्साहमें स्थिरताका उग्र प्रयत्न करता है। वह अवस्था-

सहज आनन्द दशा है जब अनन्ती शुद्धि उज्जवलता बढ़ाते हैं। उस दशा को देखना या बाह्य निमित्त को ? देहाध्यासमे रहित आत्मा का जो सनातन निर्ग्रन्थ मुनि मार्ग है वही त्रिकाल वस्तु स्थिति है। साधारण बुद्धिवाले जीवों को लगता है कि यह तो प्राचीन युगकी बातें हैं। परम पवित्र पुरुषार्थ इसी वीतराग भावक दशाकी भूमिका में कैसा होता है इसका गंभीर आशय समझनेकी पात्रता होने पर जीव उसके बाह्य—अभ्यन्तर दोनों पहलूको विरोध रहित समझ लेता है। जमाना बदल गया और स्वच्छन्दी लोग वीतराग मार्गसे भिन्न मानने लगे। जैसे २ लोगोंमें आरामपरस्ती और देहकी ममता बढ़ती गई वैसे वैसे वीतराग जिनशासनके नाम पर स्वच्छन्द शिथिलाचार पनपा और उसका समर्थन करनेके लिए मुनि अवस्था में वस्त्र पात्र आदिके परिग्रहका विस्तार हुआ। इस प्रकार मुनिधर्म को भी गृहस्थ जैसे मान बैठे। भगवान महावीरके पश्चात् किसी समय १२ वर्षका दीर्घकालीन अकाल पड़ा तब शिथिलाचार पर मतभेद होनेसे दो पक्ष हो गए।

यदि पक्षपातकी बुद्धि छोड़कर मध्यस्थ भावसे तत्वका विचार किया जाय तो वस्तु स्थिति समझमें आजाती है। अन्य सभी पक्षोंसे विरोध भाव छोड़कर यथार्थ वीतराग स्वरूपकी श्रद्धा की जावे तो मुनिधर्म दिगम्बर स्वरूप कैसा हो समझमें आ सकता है। दिगम्बर मुनि महावैराग्य स्वरूप उपशम समता आदि गुणोंसे विभूषित रहते हैं। जैसे अंगारे पर राख हो तो भले ही ऊपरसे राख ही दिखाई पड़े किन्तु अन्दर अग्नि प्रज्वलित रहती है। उसी प्रकार ज्ञानीका शरीर भले ही रुखा-असुहावना लगे किन्तु अन्तरंग

में महापवित्र, शांतिआनन्दका अनुभव स्वरूप चैतन्यमय निराकुलता-का सुख वर्तता है। मुनि स्वरूपकी समाधिमें लीन रहते हुए चैतन्य ज्योतिका अनुभव करते हुए अत्यन्त पवित्र, उज्जवलता युक्त और शांत एवं वीतरागी होते हैं। उनके बारम्बार छठे सातवें गुणस्थानका उतार चढ़ाव चलता रहता है। सम्पूर्ण वीतरागताकी साधना ही अपूर्व मुनि अवस्था है। अन्तरग बहिरंग निर्ग्रंथ मार्ग द्वारा ही केवलज्ञान प्राप्तिका प्रयोग चलता है।

कोई कहे कि मोक्ष तो आत्माका होता है उसका वस्त्र त्याग-से क्या सम्बन्ध ? चाहे जिस वेषमें मुनि धर्म हो इसमें क्या बाधा है ? ऐसे कुतर्कीको यह ज्ञात नहीं है कि छठे सातवें गुणस्थानकी वीतराग दशा, (साधक मुनिमार्गकी स्थिति) उग्र पुरुपार्थरूप उपा-दानकी ऐसी तैयारी और ऐसी वैराग्यमय होती है अत उनकी उसे समझ नहीं, इसलिए वह अन्यथा कल्पना करता है।

यदि कोई कहे कि शरीरकी शोभा, लज्जा, निरोगता आदि राग कषाय पोषण करनेके लिए वस्त्र नहीं रखते अपितु संयमके परि-पालनार्थ ही वस्त्र पात्र रखते हैं तो उन्हें भी निर्ग्रंथ मार्गकी खबर नहीं है। इस गाथामें कहा गया है कि मुनि अवस्थामें जीवन पर्यंत स्नान नहीं करना। जब मुनि होनेकी भावनामें इतना बल है तब साक्षात् मुनि पदमें तो चारित्र भी उग्र होता है वहाँ शरीरके प्रति अणु मात्र भी ममत्त्व नहीं है फिर देहकी शोभा क्यों ? मुर्देको सजाना, सन्मान करना क्या ?

मुनिके अचेतन ऐसे इस शरीरके प्रति राग नहीं होता, शरीर तो मृत ही है ऐसे अचेतन स्वभाववाले देहादिके प्रति मुनि

उदासीन होते हैं। क्यों देहके प्रति अंश मात्र भी राग या आसक्ति नहीं होती; इसलिए शरीरका शृंगार करूँ, उसे अच्छा रखूँ ऐसी इच्छा मुनि कैसे करेगा? शरीरका स्नान तो शवको सजाने जैसा है। जगतमें देहादिकी व्याधिकी आरोग्यता होनेमें आनन्द और सुखकी कल्पना करते हैं किन्तु मुनि अशरीर ऐसे अतीन्द्रिय चैतन्यमें समाधि द्वारा सहज आनन्दकी निराबाध समताका अनुभव करता है। जो वीतराग दशामें रहते हैं वे केवलज्ञानको आमन्त्रण करते हैं। देह रहे या न रहे, ऐसा विकल्प क्यों नहीं होता। ऐसी यथार्थ मुनि दशाकी भावना कौन नहीं भावे? श्रीमद्‌जीने अपनेको जैसी स्थिति प्रगट करना है वैसी ही भावना की है, इसप्रकार उन्होंने वर्तमानमें मुनित्व-का तैयारी कर रखी है। इसलिए अगले भव बादमें साक्षात् सर्वज्ञ, तीर्थंकर आदि किसी महापुरुषके पास मुनि पद धारण करेंगे और जिनाज्ञाका आराधन करते हुए स्वरूप स्थिरता द्वारा अपने स्वरूप-मोक्ष-को प्राप्त करनेवाले होंगे। वे इस निर्ग्रंथ दशा द्वारा जिनाज्ञाको विचारते हुए पूर्णताको प्राप्त होंगे।

कहा भी है —

> अवश्य कर्मनो भोग छे, भोगववो अवशेष रे;
> तेथी देह एक ज धारि ने, जाशुं स्वरूप स्वदेश रे;
> धन्य रे दिवस आ अहो!

सूक्ष्म रूपसे अन्तरंग परिणामोंका अवलोकन करनेसे ज्ञात होता है कि अभी कुछ कर्म भोगनेकी योग्यता बाकी है इसलिये उन्हें क्षय करनेके लिए एक भव और धारण करना पड़ेगा, ऐसी अंतरंग-

में प्रतीति कर ही श्रीमद्ने ऐसा कहा है। कोई ऐसी अपूर्वताका सन्देश लाओ तो सही! अहो! गृहस्थावस्थामें भी अन्तरगमें केवल ज्ञानकी झंकार और अति निकटता (समीपता)की साची होती है, किसीको पूछने नहीं जाना पडता। लोग पत्तपात छोडकर मध्यस्थता एव न्यायसे विचारें तभी ज्ञानी धर्मात्माके हृदयको पहचान सकते हैं। 'धन्य रे दिवस आ अहो! जागी रे शान्ति अपूर्व रे।' यह वाणी आत्माको स्पर्श करके आई है इस भावनाके बलसे सच्चे अभिप्रायका अभ्यास और पुरुषार्थ बढते हैं।

निर्ग्रंथ वीतराग मुनि दशामें अदतधोवन, अस्नान, नग्न शरीर, वीतरागता आदिका होना सुप्रसिद्ध है। जिसे अपने अपरिमित ज्ञान स्वरूपमें उत्कृष्ट वीर्यका अटूट विश्वास है उसका जीवन सहज ही प्राकृतिक होता है। उसके दॉत नहीं विगड़ते हैं, उनमें दुर्गन्ध नहीं होती है। ऐसा महा ब्रह्मचारियोंका शरीर शात, सौम्य और परम वैराग्यरूप होता है। वे किसी भी समय छोटासा वस्त्र भी नहीं रखते। 'अदतधोवन' की स्थिति घनी रहती है। उनके नवकोटि विशुद्ध ब्रह्मचर्य, समिति, गुप्ति, पचमहाव्रत आदि सहज ही होते हैं।

मुनिके शरीरको सुधारने, सम्हालने या श्रृंगार करनेका भाव नहीं होता उनके वीतरागी आचरणमय संयम, ज्ञान स्वरूपकी रमणता या एकाग्रता रहती है। अतरग बहिरग परिग्रहसे रहित मुनि छठे-सातवें गुणस्थानमें रहते हैं। उनके बाह्य या अभ्यन्तर कृत्रिमतासे रहित ऐसी सहज निर्दोष निर्ग्रंथ दशा रहती है। मुनिपद अर्थात् निर्ग्रंथ मार्ग द्वारा केवल ज्ञान प्रकट करनेका प्रयोग उसमें स्थिरतारूप चारित्र ही ज्ञानकी क्रिया है।

इस वीतराग स्वरूप साधककी भूमिकामें बाह्यमें नग्न शरीर निर्ग्रन्थ अवस्था ही सहज निमित्त हो, यह सनातन नियम है। श्रीमद् रायचन्द्र उस नियमको जानते थे इसीलिए गाथामें ही कहा कि—

"क्यारे थइशुं बाह्यांतर निर्ग्रन्थ जो
सर्व सम्बन्धनुं बन्धन तीक्ष्ण छेदीने
विचरशुं कव महत्पुरुषन पथ जो"

मात्र शरीर ही, संयमका हेतु हो ऐसी अवस्था महानपुरुष, पूर्ण निष्परिग्रही, नग्न दिगम्बर, भावलिंगी मुनिके ही होती है। मुनि अवस्थामें अंतरंगमें रागद्वे पादि अज्ञानकी ग्रन्थि नहीं होती ॥९॥

शत्रु मित्र प्रत्ये वर्ते समदर्शिता
मान अमाने वर्ते ते ज स्वभाव जो
जीवित के मरणे नहीं न्यूनाधिकता
भव मोक्षे पण शुद्ध वर्ते समभाव जो ॥अपूर्व॥१०॥

इस पदमें मुनिपदके योग्य समताभावकी स्वाभाविक स्थिति बताई गई है। शत्रु या मित्र दोनोंकी आत्मा शक्तिरूपसे सिद्ध भगवान जैसी है इसलिए मैं किस पर राग या द्वेष करूँ। कोई बाँस से पीटनेवाला मिले, वसूलासे छेदनेवाला मिले या कोई चन्दन लगानेवाला किन्तु उनमें किसी प्रकारकी इष्ट या अनिष्टकी कल्पना नहीं है, ऐसी स्थिति इस पदमें व्यक्त की गई है। कोई पूर्व कारणसे शत्रु होकर इस शरीर पर उपसर्ग करे तो भी द्वेष नहीं है इसलिए

उसके वीतराग भाव हैं। कोई मित्र होकर शरीर की पूरी सम्हाल रखे, आदेश सुनते ही अनेक सुखसाधन जुटादे, बहुत विनय-करे ऐसे मित्रके प्रति भी रागभाव नहीं हैं। इसप्रकार शत्रु मित्रके प्रति सम-भाव है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि दुर्जनको सज्जन माना जाय किन्तु ज्ञानमें यह समझा जावे कि उसकी प्रकृतिकी मर्यादा ऐसी है, विषको विष जाने, क्रोधीको क्रोध प्रकृति वाला समझे, सज्जनको सज्जन जाने किन्तु दोनों समान गुण वाले हैं ऐसा न माने। जैसा है वैसा ही जाने किन्तु किसीसे हर्ष शोक या इष्ट अनिष्टपना नहीं करे। इस प्रकार दोनोंके प्रति समभाव प्राप्त कर आगे उत्कृष्टता प्राप्त करता है कि 'जीवितके मरणे नहीं न्यूनाधिकता, भवमोक्षे पण शुद्ध वर्ते समभाव जो' इसप्रकार एकधारारूप समता भाव जीवनमें आवे ऐसा अपूर्व अवसर कब आवे इसकी भावना की गई है।

'अवसर' शब्दका विश्लेषण है अव+सर=अव=निश्चय, सर=बाण, शुद्धनयरूपी धनुष्य और शुद्ध उपयोगकी तीक्ष्णताका एकाग्रतारूपी बाण द्वारा सबही कर्म कलंकोंका नाश हो जाय ऐसा अपूर्व अवसर जल्दी प्राप्त करनेकी भावना यहाँ की गई है।

देह दीर्घकाल तक रहे या अल्पकाल तक, दोनों समान हैं। जीवन और मृत्यु यह पुद्गलोंके अनन्त रजकणोंकी अवस्था है, उसका मिलना, गलना या पृथक् होना पुद्गलके अधीन है, उसे आत्मा नहीं रख सकता। धर्मात्मा इस देहके छूटनेके समय पर अपूर्व पुरु-षार्थसे समाधि मरण पूर्वक शान्ति प्राप्त करता है। जगतमें जैसे कुत्ता, बकरा, लट आदि पशु मरते हैं और उनका जीवन व्यर्थ जाता है उसीप्रकार धर्म रहित मनुष्यादि जीवोंका जीवन व्यतीत होता है।

कोई कमी अधिक पुण्यवाला भी हो सो परमार्थमें उसकी कोई कीमत नहीं है किन्तु जिसे यथार्थ स्वरूपकी प्रतीति है, मात्र जो मोक्षाभिलाषी है और जो स्वरूपके ज्ञानकी कीमत जानता है वह स्वरूपकी सावधानीसे जागृत-सफल जीवन व्यतीत करता है। ज्ञानी धर्मात्मा अकषाय स्वरूपमें उल्लासवन्त होता हुआ भी आयु पूर्ण होने समय अपूर्व समाधिमरण करनेका उत्साह लाता है। देहायुष्का अन्त निकट जानकर उसके अपूर्व भावनाका उल्लास प्रस्फुटित होता है। केवल ज्ञाताका पुरुषार्थ उसके स्वरूपकी एकाग्रतामें वर्तता है। देहका चाहे जो हो उसकी सम्हाल कौन रख सकता है? आयु पूरी होने पर जिस क्षेत्रमें जिस कालमें, जिस प्रकार देह छूटना हो उसी प्रकार छूटना होगा। एक समय मात्रकी भी देर नहीं होगी। कोई कहे आयुका ७ प्रकारसे क्षय होता है। (किन्तु यह व्यवहारका कथन है) आयुकी स्थिति पूर्ण होनेपर ७ कारणोंमेंसे कोई एक कारण उसके निमित्त होता है ऐसा नियम बताया है, किन्तु कोई किसीकी आयुमें कमती बढ़ती नहीं कर सकता।

प्रश्न—तो फिर किसीको मारनेमें पाप नहीं लगेगा क्योंकि जिलाना या मारना किसीके हाथकी बात नहीं है।

उत्तर—कोई किसीके मारने या जिलानेका काम नहीं कर सकता किन्तु जिलाने या मारनेका भला बुरा भाव जीव कर सकता है। जीव या तो ज्ञान करे या अज्ञान या पुण्य पापके भाव करे। जिलानेका राग पुण्य भाव है और मारनेका भाव पाप भाव है। मैं परका कुछ कर सकूं ऐसा विपरीत मान अज्ञान है।

ज्ञानी देहके वियोगको प्रत्यक्ष सामने देखता है इसलिए

उसके देहके चाहे जो हो जावे किन्तु उसके रखने या नहीं रखनेकी उसे इच्छा नहीं रहती। क्योंकि देह उसकी आयुकी स्थिति अनुसार ही रहेगी इसलिए ज्ञानीको उसकी चिन्ता नहीं है।

[ता० ४-१२-३६]

आत्मज्ञानयुक्त पूर्णताके लक्ष्यसे स्वरूप स्थिरताकी यह भावना है। शत्रु या मित्र, निंदक या वन्दकको समान समझने व जीवन मृत्यु तथा संसार मुक्तिको समान समझनेके सम्बन्धमें शांति जिन स्तवनमें कविने बताया है--

मान अपमान चित्त सम गणे सम गणे कनक पाषाण रे
वन्दक निंदक सम गणे ईस्यो होय तूं जाण रे
सर्व जगजतुने सम गणे गणे तृण मणि भाव रे
मुक्ति संसार वेउ सम गणे मुणे भवजलनिधि नाव रे
शांति जिन एक मुज बिनति ॥

शान्ति अर्थात् समता स्वभाव। हे परमात्मा! आपने सिद्ध स्वभाव प्रकट किया है। मैं भी आपके जैसा ही होने योग्य हूँ यह लक्ष्यमें रखकर यहाँ श्रीमद् कहते हैं कि संसार और मुक्तिमें भी समान दृष्टि रहे। यहाँ बेहद समतामय अखण्ड द्रव्यस्वभाव और वीतरागता बताई है। द्रव्य तो अनादि अनन्त हैं इसलिए बन्ध और मोक्ष ऐसी दो अवस्थाके दो भेदकी कल्पनामें ज्ञानी अटकता नहीं है।

ज्ञानीको भव-ससारके प्रति खेद नहीं, एक दो भव बाकी हो या भवका अभाव किया उसमें ससारी और मुक्त अवस्थाका शोक या हर्ष करनेका समय नहीं, ऐसी अप्रमत्त भूमिका लेकर आगे क्षपक

मे खीमें आत्म हो, ऐसा वीतराग भाव (स्वसमय) कब आवेगा यह भावना यहाँ व्यक्त की है।

'सिद्ध समान सदा पद मेरो'। ज्ञानी स्वभावमें तो पूर्ण पवित्र शाश्वत चिद्घन हैं किन्तु वर्तमान अवस्थामें कमजोरीके कारण अस्थिरता रहती है।

छठे गुणस्थानसे शुभ विकल्प व्यक्त अव्यक्त होते हैं उसमें मोक्षकी इच्छाका विकल्प रहता है, उस विकल्पको भी नष्ट कर ऐसी उत्कृष्ट दृढ़तर स्थिरता एकाग्रता करूँ कि केवलज्ञान की उत्कृष्ट पर्याय प्रगट आवे, ऐसा यहाँ कहा गया है। उसे पानेकी योग्यता या उत्कृष्ट दशावाला समभाव हो वहाँ मोक्ष दशा प्रकटे ही। बन्ध और मोक्ष ये दो तो आत्माकी अवस्थायें हैं और आत्मा अविनाशी नित्य है। संसार पर्याय बन्धनरूप है। शुभ या अशुभ परिणाम भावबन्धरूप अवस्था है उसके अभाव की अपेक्षा मोक्ष कहा जाता है। ससार और मुक्ति पर्याय दृष्टिसे पर निमित्तकी अपेक्षा दो भङ्ग हैं। आत्मा वस दो भङ्ग जितना नहीं है क्योंकि आत्मा निमित्त की अपेक्षा रहित नित्य एकरूप है। आत्मभान पूर्वक चारित्र दोष टालनेके लिए परम पुरुषार्थकी भावनासे परम निर्जरा भावका वर्णन इस पदमें किया गया है।

एकाकी विचरतो वली स्मशानमाँ,
वली पर्वतमाँ वाघ सिंह संयोग जो।
अडोल आसन ने मनमाँ नहिं क्षोभता,
परम मित्रनो जाणे पाम्या योग जो ॥अपूर्व०॥११॥

गृहस्थाश्रममें होते हुए भी श्रीमद् राजचन्द्र कितनी उत्कृष्ट

भावना करते थे। उनके अन्तरंगमें पवित्र उदासीनता, निवृत्तिभाव, मोक्षस्वरूपको प्राप्त करनेका उत्साह जागृत होता है। वह निर्ग्रंथ साधक दशा धन्य है, जो महात्म्य करने योग्य है।

श्मशान, जङ्गल, पहाड़, गुफा आदि स्थानोंमें जहाँ सिंह आदि रहते हैं, एकाकी रूपसे विचर सके ऐसी महा पवित्र दशा धन्य है। वे मुनिवर भी धन्य हैं जो ऐसे शात, एकातक्षेत्रमें एकत्व दशाकी साधना करते हैं। किसी पर्वतकी गुफामें या शिखर पर रहकर बेहद आनन्दघन स्वभावकी मस्तीमें लीन होकर जाग्रत ज्ञानदशाकी एकाग्रता द्वारा केवलज्ञान शक्तिको प्रकट करूँ या एकात निर्जन वनमें नग्न निर्ग्रंथ मुनि बनकर, सहज स्वरूपमें मग्न होकर पूर्ण पद प्रकट करूँ ऐसी पूर्ण पवित्रदशा कब आवेगी, यही भावना प्रस्तुत पदमें की गई है।

जहाँ सिंह और वाघ गर्जन करते हैं, जहाँ साधारण जीव काँप उठे—ऐसे वन क्षेत्रमें शात एकाकी, निस्सग परिणाम वाले, महा वैराग्यवान, उपशम समताकी मूर्ति, चैतन्य ज्योति स्वरूप बनकर आनन्दमय, सहज समाधिमें लीन हो जाऊँ ऐसा अपूर्व अवसर कब आवेगा।

जिनके अन्तरग अभिप्रायमें अशरीर चैतन्य भाव वर्तता है और वर्तमान चरित्रमें कुछ अपरिपक्वता होनेसे जङ्गलकी एकात स्थितिका विकल्प आता है और उत्कृष्ट साधकदशाकी भावना है इसलिए उसे पूर्ण करनेके लिए सिंहोंके रहनेवाले घने जङ्गल, पर्वत-की गुफा या एकात स्थानमें जाकर निश्चल आसन लगाऊँ और बाह्य व अन्तरगमें अक्षोभता रखूं ऐसा चिंतवन करता है। उनके क्षोभ

रहित परिणमन सहज ही होते हैं। शरीर स्थिर रहे या न रहे यह भिन्न बात है क्योंकि वह आत्माके आधीन नहीं है किन्तु अन्तरंगमें वीतरागमय निश्चल स्थिरस्वभावकी एकाग्रता बढ़ती जाती है, ऐसी स्वरूप जागृतिकी स्थितिमें सिंह आकर क्या करे ? यह शरीर तो मुझे नहीं चाहिये इसलिए उसे लेनेके लिए आनेवाले अर्थात् उसकी निवृत्ति करानेवाला उपकारी वह मित्र है ऐसी भावनाका उत्साह ऐसे साधकको ही आता है।

कोई बाह्य साधनाका पक्ष करता है किन्तु यहाँ तो पूर्ण स्वरूपके उत्साहकी भावना है। जो आत्मासे हो सके ऐसी ज्ञानक्रिया या स्वरूपमें रमणता (जिन स्वरूप)का विचार है। इस प्रकारके अडिग निश्चल, असीम विश्वासकी स्वीकारता तो करो। कभी सिंह शरीरके टुकड़े भी करदे तो भी क्षोभ न हो। यह भावना विवेक सहित है-मूढ़तायुक्त नहीं है। लोग हठयोगरूप मनकी बाह्य स्थिरतासे मूढ़ जैसे बनते हैं, उनकी यह बात नहीं है। यहाँ तो असली साधक दशाकी भावना है।

कहा भी है कि "ऋषभ जिनेश्वर प्रीतम म्हारो रे, और न चाहुँ रे कंथ, रीझ्यो साहेब संग न परिहरे रे भांगे सादि अनन्त।" इसप्रकार अखण्ड वीतराग दशाकी भावना की गई है। इससे आगे बढ़कर अपनी शुद्ध चेतना सखीको कहते हैं कि "वसो सखी वहाँ जहाँ अपना नहीं कोई, माटी खाय जनावरा, मुवाँ न रोवे कोई।" देहका चाहे जो हो किन्तु अखण्ड समाधिका महोत्सव उत्सव हो ऐसी स्वरूपकी सावधानी, निःशंकता निर्भयता कैसे आवे ? ऐसी भावना यहाँ की गई है।

जैसे राज महलमें राजा निर्भय होकर सोता है उसी प्रकार मुनिराज वाह्याभ्यंतर निर्ग्रंथ दिगम्बर दशामें पर्वत, वन, क्षेत्रमें जहाँ सिंह वाघ रहते हो वहाँ वाह्य अभ्यतर असग, एकत्व दशा साधते हैं और ध्यानमें निश्चल रहकर स्वरूप मस्तीमें सहजआनन्दकी रमणता-में रहते हैं। जैसे स्वच्छ जलसे भरा हुआ सरोवर हवा न चलती हो तब, स्थिर दिखता है उस समय वह पूर्ण चन्द्रके विम्बसे विशेष उज्ज्वल दीखता है उसी प्रकार मुनिराज शात, धीर, गम्भीर, उज्ज्वल समाधिमें मस्त रहकर मानों कि अभी केवलज्ञान प्राप्त किया या करू। ऐसे वेहद पूर्ण स्वभावमें दृष्टि लगाकर एकाग्र होता है, ऐसी अवस्था-में कभी वाघ अथवा सिंह भूखसे गर्जना करता आये तो भी यह जाने कि परम मित्रका योग मिला क्योंकि जिस शरीरकी आवश्यकता नहीं है और जो शरीरको अपना नहीं मानता है उस पुरुषका शरीरको लेजानेवाला मित्र है। देहसे मेरे दर्शन, ज्ञान चारित्रका लाभ या नुकसान नहीं है। समयसारमें कहा है कि यह शरीर छेदा जाय, भेदा जाय या कोई इसे ले जाए वा इसे नष्ट करदे या इसका चाहे जो कुछ हो किन्तु देह मेरा नहीं है। शरीरके प्रति जिसे अणुमात्र भी ममत्त्व नहीं है ऐसी अशरीरी भावनामें रहनेवाले धर्मात्माका भाव कितना उत्कृष्ट होता है यह देखो तो सही! ऐसे समय श्रीमद् जवाहरातके व्यापारमें थे या आत्मामें ?

जिस समय इस काव्यकी रचना की उस समय श्रीमद्‌के बम्बईमें जवाहरातका व्यापार आदिका बाह्यमें व्यवसाय था किन्तु फिर भी सब परिग्रहसे निवृत होने और उत्कृष्ट साधक दशा भावना माते थे। इस काव्यका एक एक शब्द गम्भीर भावार्थयुक्त है। वे

महावैराग्यवान थे और पुरुषार्थ द्वारा मोक्ष स्वभाव दशा प्रकट करूँ ऐसी भावना सहित आंशिक स्वरूपकी स्थिरताकी सावधानी रखकर मुनित्वकी भावना यहाँ की गई है इसीलिए श्रीमद् कहते हैं कि इस शरीरकी स्थितिपूरी होने ही वालीहै उसमें निमित्त होनेवाले बाघ सिंह का संयोग मित्र समान है। लोक संसार प्रवृत्तिसे अमुक समय तक निवृत्ति लेकर सत्समागम, सत्शास्त्रके अभ्यास श्रवण, मनन या अभ्यास की रुचि न करे तो उनको इस बातकी भावनाका अंश भी कहाँ से आवे ?

श्रीमद् रायचन्द्र गृहस्थवेषमें होते हुए भी वीतरागी मुनित्व-की दशा प्राप्त हो ऐसी भावना भाते थे। मैं जंगलमें बैठा होऊँ और हरिण मेरे शरीरको लकड़ीका ठूंठ समझकर उससे अपने शरीरकी खाज खुजावे ऐसी स्थिरता कब आवेगी ? बाहरसे योग हो या न हो वह उदयाधीन है किन्तु इस अशरीरी भावकी स्वीकारता तो लाओ। पुरुषार्थ करना उदयाधीन नहीं है, किन्तु अपने अधीन है। ऐसी उत्कृष्ट भावनाका उत्साह धर्मात्माको आता ही है।

संसारी जीवोंको बाह्य संयोग, उपाधिरूप वैभवका उत्साह रहता है कि मेरे बंगला हो मेरे टेबिल, कुर्सी, गद्दी, तकिया पंखा वगैरह हो। उनमें मोहाभिभूत होकर हर्ष अनुभव हो ऐसी विपरीत भावना वे करते रहते हैं। क्योंकि उनके संसारका ही अपार प्रेमपूर्ण भाव रहता है। जो परवस्तुमें सुखबुद्धि करते और रागी द्वेषी बनने में ही संतोष मानता हो उसके राग रहित, पवित्रआत्माकी रुचि, श्रद्धा कैसे हो ?

एक बार एक भाई श्रीमद्के पास गया। उनके सम्मुख गद्दी

र बैठ कर उसने बीड़ी पीते पीते उनसे पूछा आप ज्ञानी हैं इसलिए बताइये कि मोक्ष कैसे मिले" श्रीमद्ने उसे उत्तर दिया कि "ऐसेको ऐसा।" इस उत्तरसे दो अभिप्राय प्रकट होते हैं (१) आप जैसे हैं वैसे हो जावो (स्थिर हो जाओ।) (२) यह भी अभिप्राय है कि तत्त्व की रुचिके विना ज्ञानीके प्रति प्रेम, विनय या बहुमान नहीं होता। शरीरके प्रति आसक्ति रखने वाले, परमे सुख माननेवाले व विषय कषाययुक्त ससारी रुचिवाले जीवोंको मोक्षकी रुचि कैसे हो? राग द्वेष तथा देहादिसे सर्वथा छूटना मोक्ष है। त्याग, वैराग्य की भावना विना तथा देहादिके प्रति ममता या आसक्ति की कमी किये विना कोई शुद्ध आत्माको देखना चाहे तो कैसे मिले? जिसे आत्मभान न हो और शरीरका क्षेम कुशल रखने की ममता है उसको राग रहित अतीन्द्रिय आत्माकी श्रद्धा कैसे हो? इसलिए देह की ममता पहले घटानी चाहिए।

श्रीमद्ने इस गाथामें शरीरको छोडने की—अशरीर होनेकी भावनाका वर्णन किया है 'उन्होंने कहा है कि सिंहका सयोग होने पर ऐसा मानना चाहिए कि "परम मित्रनो जाणे पाम्या योग जो।"(मानो परम मित्र का सयोग मिला हो)। मेरे तो शरीर रखनेकी इच्छा नहीं और सिंहको शरीर रखनेकी इच्छा है। मुझे शरीरके प्रति ममत्व नहीं है आवश्यकता नहीं है यह रहस्य तू (सिंह) कैसे समझ गया? ऐसा समझकर इस शरीरका नाश करनेवाला (मृतककी उपाधिका नाश करने वाला) सिंह। तू ही मेरा उपकारी है। श्रीमद् अशरीरी भावकी भावना ससारी वेशमें रहते हुए भी करते थे। केवलदर्शन, केवलज्ञान प्रकट करनेका प्रयोग विचारते थे। और भावना करते थे। उनकी भावना थी

महावैराग्यधाम थे और पुरुषार्थ द्वारा मोक्ष स्वभाव दशा प्रकट करूँ ऐसी भावना सहित आंशिक स्वरूपकी स्थिरताकी सावधानी रखकर मुनित्वकी भावना यहाँ की गई है इसीलिए श्रीमद् कहते हैं कि इस शरीरकी स्थितिपूरी होने ही वालीहै उसमें निमित्त होनेवाले बाघ सिंह का संयोग मित्र समान है। लोक संसार प्रवृत्तिसे अमुक समय तक निवृत्ति लेकर सत्समागम, सत्शास्त्रके अभ्यसन श्रवण, मनन वा श्रवण की रुचि न करे तो उनको इस बातकी भावनाका अंश भी कहाँ से आवे !

श्रीमद् रायचन्द्र गृहस्थवेशमें होते हुए भी वीतरागी मुनित्व-की दशा प्राप्त हो ऐसी भावना भाते थे। मैं जङ्गलमें बैठा होऊँ और हरिण मेरे शरीरको लकड़ीका ठूठ समझकर उससे अपने शरीरकी खाज खुजावे ऐसी स्थिरता कब आवेगी ? बाहरसे योग हो वा न हो वह उदयाधीन है किन्तु इस अशरीरी भावकी स्वीकारता तो लाओ। पुरु-षार्थ करना उदयाधीन नहीं है, किन्तु अपन अधीन है। ऐसी उत्कृष्ट भावनाका उत्साह धर्मात्माको आता ही है।

संसारी जीवोंको बाह्य संयोग, उपाधिरूप वैभवका उत्साह रहता है कि मेरे बङ्गला हो मेरे टेबिल, कुर्सी, गद्दी, तकिया पंखा वगैरह हो। उनमें मोहाभिभूत होकर हर्ष अनुभव हो ऐसी विपरीत भावना वे करते रहते हैं। क्योंकि उनके संसारका ही अपार प्रेमतृष्णा भाव रहता है। जो परवस्तुमें सुखबुद्धि करने और रागी द्वेषी बनने में ही संतोष मानता हो उसके राग रहित, पवित्रआत्माकी रुचि, श्रद्धा कैसे हो !

एक बार एक भाई श्रीमद्के पास गया। उनके सम्मुख गद्दी

रजकण के रिद्धि वैमानिक देवनी ।
सर्वे मान्या पुद्गल एक स्वभाव जो ॥अ०१२॥

स्वरूप रमणतामें प्रवर्तमान साधक जीवको उग्र पुरुषार्थके बढने पर निर्ग्रंथ मुनि अवस्थामें कभी२ ऐसा अवसर आता है कि दो महीनो तक अनाहारक स्थिति रहती है। कभी ६ महिना भी आहार छूट जाता है किन्तु मनमें किसीप्रकारका ताप नहीं है, शरीरके कृश होने की ग्लानि नहीं,खेद नहीं,किन्तु निश्चल समताकी वृद्धि होती रहती है। सहज आनन्दसागर दशामें झूलते हुए खेदका अंश भी कैसे हो ? ऐसी साधक दशा को धन्य है।

ससारी जीव मोक्ष चाहते हैं किन्तु एक दिवस भूखे रहने का अवसर आजाय तो कॅपकॅपी होती है और खाने पीनेकी लोलुपता के वश होकर आगे पीछे की तैयारी करनेमें अनेक प्रकारका नाटक करता है। जब मुनि आत्माके भान सहित स्वरूपमें लीनतामें सावधान रहता है तब कभी छः छः माह कैसे पूर्ण हुए, इनके स्मरण करनेकी वृत्ति उसके नहीं रहती।

स्वरूपमें निश्चल रहनेमें एक क्षणमात्रका विराम न होने दूँ, ऐसी जिसकी भावना है ऐसे महर्षियोंमें श्रेष्ठ तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव थे। वैशाख शुक्ला ३ को वे ससार छोड कर निष्परिग्रही वन-कर जगलमें चले गए थे। दीक्षाके समयमें उनके चौथा मन. पर्ययज्ञान प्रकट हुआ जो कि उसी भवमें मोक्ष जाना है। अकषायी स्थिरताका अभ्यास बढते हुए उनके विकल्प हुआ कि छः महिना आहार न लेऊँ। छः माह पूरे होनेपर उनके आहार लेनेकी वृत्ति उठी किन्तु आहारका योग नहीं बना। फिर छः माहतक आहारका अन्तराय रहा

कि ऐसा प्रसंग मिले कि गज कुमार की तरह मुझे भी शीघ्र मोक्ष स्वभाव प्रकट हो। इस रुचिका रसिक पूर्ण वीतराग स्वरूपकी भावना करता है जबकि संसारी रुचि वाला मोही जीव विपरीत मनोरथ करता है कि मुझे खूब धन, घर, स्त्री, जेल गाड़ी आदि मिले, मेरे धन वैभव, परिवार खूब बढ़े। और मैं हाइलाहते, भरे पूरे जेल आदि को छोड़कर मरूँ। इसके विपरीत ज्ञानी धर्मात्मा यह भावना करता है कि मैं अविनाश शुद्ध स्वभाव में स्थिर रहते हुये उग्र पुरुषार्थ करता हुआ दो घड़ीमें केवलज्ञान प्रकट करूं।

मुनि जंगलमें आत्म स्वरूपके ध्यानमें लीन हो और उस समय सिंह उनका गला पकड़े, उस समय केवलज्ञान पर दृष्टि रखते हुए चैतन्यका अतीन्द्रिय असीम पुरुषार्थ प्रकट होता है। सिंहके मुखमें चैतन्य कैसे पकड़ा जाय। चैतन्य तो जो कुछ होता है उसको जानता है। इसीलिए श्रीमद्‌ने कहा कि "सिंहे पकड़यु गलु त्यार ज्ञानी ए पकड़ी अडोल स्थिरता।" श्रीमद्‌ने संसारी वेशमें ऐसी भावना की कि कब मैं क्षपक में थी चढ़कर अन्तमुहूर्तमें केवलज्ञान प्रकट करूं। इस प्रकार का अपूर्व भाव कोई लावो तो ! ॥११॥

अतीन्द्रिय आनन्दमें लीनता का रसास्वाद-अनुभव बढ़ने पर शुभाशुभ इच्छाओंका निरोध होता है क्योंकि कहा है कि 'इच्छा निरोध तप' इस प्रकार श्रीमद् तपश्चर्यामें भी उत्कृष्टता बताते हैं—

घोर तपश्चर्यामां पण मन न ताप नहीं,
सरस अन्ने नहीं मन न प्रसन्न भाव जो ॥

रजकण के रिद्धि वैमानिक देवनी ।
मर्वे मान्या पुद्गल एक स्वभाव जो ॥अ० १२॥

स्वरूप रमणतामें प्रवर्तमान साधक जीवको उग्र पुरुषार्थके बढ़ने पर निर्ग्रंथ मुनि अवस्थामें कभी२ ऐसा अवसर आता है कि दो महीनों तक अनाहारक स्थिति रहती है। कभी ६ महिना भी आहार छूट जाता है किन्तु मनमें किसीप्रकारका ताप नहीं है, शरीरके कृश होने की ग्लानि नहीं, खेद नहीं, किन्तु निश्चल समताकी वृद्धि होती रहती है। सहज आनन्दसागर दशामें भूलते हुए खेदका अंश भी कैसे हो ? ऐसी साधक दशा को धन्य है।

ससारी जीव मोक्ष चाहते हैं किन्तु एक दिवस भूखे रहने का अवसर आजाय तो कॅपकॅपी होती है और खाने पीनेकी लोलुपता के वश होकर आगे पीछे की तैयारी करनेमें अनेक प्रकारका नाटक करता है। जब मुनि आत्माके भान सहित स्वरूपमें लीनतामें सावधान रहता है तब कभी छ छ माह कैसे पूर्ण हुए, इनके स्मरण करनेकी वृत्ति उसके नहीं रहती।

स्वरूपमें निश्चल रहनेमें एक क्षणमात्रका विराम न होने दूँ, ऐसी जिसकी भावना है ऐसे महर्षियोंमें श्रेष्ठ तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव थे। वैशाख शुक्ला ३ को वे ससार छोड कर निष्परिग्रही वन-कर जगलमें चले गए थे। दीक्षाके समयमें उनके चौथा मन. पर्ययज्ञान प्रकट हुआ जो कि उसी भवमें मोक्ष जाना है। अकषायी स्थिरताका अभ्यास बढते हुए उनके विकल्प हुआ कि छ महिना आहार न लेऊँ। छ माह पूरे होनेपर उनके आहार लेनेकी वृत्ति उठी किन्तु आहारका योग नहीं बना। फिर छ माहतक आहारका अन्तराय रहा

इससे पुनः छ: माह आहार नहीं मिला किन्तु इसका उन्हें खेद नहीं था, इसप्रकार वे आहार बिना बारह महीने तक रहे। ऐसे धीर, भीर, शूरवीर मुनिधर्मके पालनमें सावधान रहते हैं। ज्ञान तथा तीनों कालमें ऐसी ही होती है। कोई शिथिलताकी बात करे तो वह मोक्षमार्गमें नहीं है क्योंकि आत्मामें असीम अनन्त शक्ति है वह कभी घटती नहीं है। १६० दिन तक चारों प्रकारके आहार बिना उपवास की स्थितिमें घोर तपश्चर्यामें किसी मुनिको शरीर कमजोर भी दिखे किन्तु शरीर अस्थिपञ्जर मात्र रहते हुए अन्तरमें चैतन्य भगवान असीम समतावाले पूर्ण है। मेरे बलकी खुराक नहीं है, शरीरकी स्थिति वैसी रहनी हो वैसी ही रहे ऐसा वह जानता है। मुनिके असाताका उदय हो तो भूख लगे और साताका उदय हो तो आहार मिले, उदय न हो तो नहीं मिले किन्तु मनमें दुःख नहीं है। जिसे शरीरकी अधिक आसक्ति है वे ऐसा सुनते ही काँपते हैं किन्तु जिसे इस दशाकी तैयारी हो उसके असीम सामर्थ्य तैयार रहती है पीछे वैसा योग बने या न बने यह अलग बात है किन्तु भावना इसकी कैसे हो? आत्मा अन्तरंग में असीम सामर्थ्यसे प्रत्येक समय परिपूर्ण रहता है इसलिये उसकी भावना भी उत्कृष्ट ही होनी चाहिए।

संसारी जीव ममताके वश होकर पूर्णताकी इच्छा करते हैं और इसीलिए विवाहके गीतोंमें गाया जाता है कि मैं तो थाल भर्यो छग (परिपूर्ण) मोतीए' चाहे थालका ठिकाणा नहीं हो, चाहे उसमें एक भी मोती नहीं किन्तु भगारब तो मोतियों से परिपूर्ण थाल का ही

है। इस प्रकार ममताकी शिखामें भी पूर्णता चाहती है अधूरापन नहीं। जीव विपरीत होकर विपरीतताकी उत्कृष्टता चाहता है इसलिये वह अनन्ती तृष्णा द्वारा अपनेको पूर्ण करना चाहता है। उसी प्रकार मोक्षका इच्छुक संसार भावसे पलट कर सबल बना और उससे पूर्ण समताकी यह भावना करता है कि "सिद्धा सिद्धि मम दिसतु।" समतावान भावना करता है कि मेरा पूर्ण शुद्ध स्वरूप शीघ्र प्रकट हो। यह भावना अखण्डरूपसे जहाँ हो वहाँ वह भावना संसारके भावको नहीं रहने दे। जहाँ अनाहारक चैतन्यकी रमणतामें बेहद पुरुषार्थका उद्यम हो वहाँ ऐसी अपूर्व दशाका अंश प्रकट कर धर्मात्मा उसी भावनामें रहता है। उत्कृष्ट साधक दशाका उत्कृष्ट पुरुषार्थ पूर्ण होनेपर सादि अनन्तकाल पर्यंत शाश्वत निराकुल अनन्त सुख रहता है। अज्ञानी जीव मुनि अवस्थामें घोर परिषहकी बात सुनकर व्याकुल होते हैं जब कि धर्मात्मा—सम्यग्दृष्टि वैसे घोर तप और परिषहके सम्मुख कहता है कि मेरे में अनन्त शक्ति है एक समयकी अवस्थामें भी अनन्त समता भरी हुई है। अनन्त काल भी आहार नहीं मिले तो ज्ञातारूपमें स्थिर रहने का अनन्त सामर्थ्य चैतन्यमें है। स्वभावकी क्या सीमा? जिसका अनन्त स्वभाव हो उसमें सीमा नहीं हो।

चैतन्य अनादि अनन्त असीम सामर्थ्यसे पूर्ण ज्ञानघन है। मैं शरीर नहीं हूँ, उस शरीरके कारण मुझे किसी प्रकारका नफा नुकसान नहीं है। घोर तपस्यासे शरीर जीर्ण हो गया हो जैसे सूखे कोयले अथवा लकडी गाडीमें भरे हों और वे खडखड़ाएँ वैसे ही छह छह महिने उपवास सहज ही हो जाने पर शरीरकी हड्डियाँ बजने लगे

इससे पुनः छः माह आहार नहीं मिला किन्तु इसका उन्हें खेद नहीं था, इसप्रकार वे आहार बिना बारह महीने तक रहे। ऐसे वीर, धीर, शूरवीर मुनिधर्मके पालनमें सावधान रहते हैं। ज्ञान दशा तीनों कालमें ऐसी ही होती है। कोई शिथिलताकी बात करे तो वह मोक्षमार्गमें नहीं है क्योंकि आत्मामें असीम अनन्त शक्ति है वह कभी घटती नहीं है। ३६० दिन तक चारों प्रकारके आहार बिना उपवास की स्थितिमें घोर तपश्चर्यामें किसी मुनिको शरीर कमजोर भी दिखे किन्तु शरीर अस्थिपंजर मात्र रहते हुए अन्तरमें चैतन्य भगवान असीम समतासे पुष्ट है। मेरे बलको खुराक नहीं है, शरीरकी स्थिति जैसी रहनी हो वैसी ही रहे ऐसा वह जानता है। मुनिके असाताका उदय हो तो भूख लगे और साताका उदय हो तो आहार मिले, उदय न हो तो नहीं मिले किन्तु मनमें दुःख नहीं है। जिसे शरीरकी अधिक आसक्ति है वे ऐसा सुनते ही काँपते हैं किन्तु जिसे इस दशाकी तैयारी हो उसके असीम सामर्थ्य तैयार रहती है पीछे जैसा योग बने या न बने वह अलग बात है किन्तु भावना हल्की कैसे हो? आत्मा अन्तरंग में असीम सामर्थ्यसे प्रत्येक समय परिपूर्ण रहता है इसलिये उसकी भावना भी उत्कृष्ट ही होनी चाहिए।

संसारी जीव ममताके वश होकर पूर्णताकी इच्छा करते हैं और इसीलिए विवाहके गीतोंमें गाया जाता है कि 'मैं तो थाल भर्यो सग (परिपूर्ण) मोतीए' चाहे थालका ठिकाणा नहीं हो, चाहे उसमें एक भी मोती नहीं किन्तु ममारव तो मोतियों से परिपूर्ण थाल का ही

संसारी जीवको आहारादिमें गृद्धता होनेसे सरस भोजनकी होंश होती है। मुनि तो ऐसी भावना करता है कि मेरे अनाहारक स्वभावमें ज्ञानकी स्थिरताके सिवाय कुछ भी उपाधिभाव नहीं चाहिये। मेरे स्वरूपकी रमणतामें, शांतिमें इस क्षुधाकी पीडाका विकल्प कैसा ? सब छूट जाओ। मैं असग हूँ इसलिये समाधिस्थ, स्वरूप स्थिरता-रमणताका अपूर्व अवसर कब आवेगा ? ऐसी भावना यहाँ की है।

"रजकणके ऋद्धि वैमानिक देवनी,
सर्व मान्या पुद्गल एक स्वभाव जो।"

अति मलिन एक रजकणसे लेकर पुण्यमें उत्कृष्ट वैमानिक देवकी ऋद्धि तक सब पुद्गलकी विकारी पर्याय हैं वे मेरे चैतन्यका लाभ करनेवाली नहीं हैं। वैमानिक देवके पुण्यकी ऋद्धि, सूर्य चन्द्र आदि देवोंकी पुण्यकी ऋद्धिसे बहुत अधिक होती है, उसका वर्णन शास्त्रमें है। वहाँ अति उज्ज्वल अत्यधिक पुण्यके समूहका योग है। उनसे भी अधिक पुण्यके कर्मरजकणोंका योग हो तो भी मुनिको उनकी महिमा नहीं है।—क्योंकि वह तो ज्ञाता रहकर जानता है कि पुद्गलकी अनेक विचित्रतासे चैतन्यका अंश मात्र भी गुण नहीं है। उनमें राग द्वारा मैं अटकूँ तो मेरे उपाधिका बन्धन हो। अपना जो अनन्त सुखस्वरूप लक्ष में है उसे पूर्ण करनेका पुरुषार्थ बढाने और स्वरूप प्रकट करनेका उत्साह रहता है किसी निमित्तमें अटकने-का भाव उनके नहीं है। इस १२ वीं गाथा पर्यंत चारित्र मोहको क्षय करनेकी भावना है।

अब शेष नौ गाथाओंमें सूक्ष्म चर्चा है। एक एक शब्द ऊपर विस्तार करनेसे दिवस बीत जायें इसलिये सक्षेपमें कथन करना

ऐसी भावना श्रीमद् संसारमें रहते हुए करते थे। यह भावना करते हुए वे भोजन करते थे या तपस्या करते थे। वास्तवमें यह भावना सच्ची दृष्टि पूर्वक श्रावक अवस्थामें की जानी चाहिए। भावना उत्कृष्ट रूपमें करनी चाहिए। 'अपूर्व अवसर' पुरुषार्थसे सुलभ होता है और केवल वैराग्य शक्तिका अनुभव बढ़ने पर अपनी शक्तिको वीर छिपाता नहीं।

'सरस अन्ने नहीं मन ने प्रसन्न भाव जो' मेरे में ही अनन्ती ऋद्धि है तो फिर किससे राग होऊँ ? मुनिको किसी समय आहारकी वृत्ति आई और चक्रवर्ती राजाके यहाँसे उनको आहार दान प्राप्त हुआ जिसमें पुष्ट और सुन्दर आहार मिला किन्तु उनसे प्रसन्नताका विकल्प नहीं है। ऐसी उत्कृष्ट समभावी दशा मुनिके सहज ही होती है। चक्रवर्ती राजाका खीरका अति उत्तम भोजन होता है कभी उस आहारको लेनेका योग बने तो उसमें ज्ञानमस्त मुनिको प्रसन्नताका भाव नहीं आता। शरीरको आहारकी प्राप्ति उदयाधीन अर्थात् प्रारब्ध अनुसार होती है। साताका उदय हो और शरीर रहना हो तो आहार मिले ही उसमें हर्ष कौन करे ? अन्तरंगमें परम संतोषामृत का स्वाद होनेसे मुनिको आहारके प्रति ऐसा राग नहीं है। जिसे विषय कषाय और आहारकी लोलुपता है उसके हाफुस आम चिरे हुए देखकर मुँहसे लार टपकती है और उसका स्वाद लेनेके लिए व्याकुल होता है और वह खाते समय हर्ष मनाता है। जब निर्ग्रंथ मुनिका दस दस माहके उपवासके पारणेमें संयमके हेतु स्वरूप निर्दोष आहारकी इच्छा हो तब आहार सरस मिले या नीरस किन्तु उसमें प्रसन्न या खेदखिन्न नहीं हो। जिसे देहादिमें सुख बुद्धि है उसे

संसारी जीवको आहारादिमें गृद्धता होनेसे सरस भोजनकी होश होती है। मुनि तो ऐसी भावना करता है कि मेरे अनाहारक स्वभावमें ज्ञानकी स्थिरताके सिवाय कुछ भी उपाधिभाव नहीं चाहिये। मेरे स्वरूपकी रमणतामें, शातिमें इस क्षुधाकी पीडाका विकल्प कैसा ? सब छूट जाओ। मैं असग हूँ इसलिये समाधिस्थ, स्वरूप स्थिरता-रमणताका अपूर्व अवसर कब आवेगा ? ऐसी भावना यहाँ की है।

"रजकणके ऋद्धि वैमानिक देवनी,
सर्वे मान्या पुद्गल एक स्वभाव जो।"

अति मलिन एक रजकणसे लेकर पुण्यमें उत्कृष्ट वैमानिक देवकी ऋद्धि तक सब पुद्गलकी विकारी पर्याय हैं वे मेरे चैतन्यका लाभ करनेवाली नहीं हैं। वैमानिक देवके पुण्यकी ऋद्धि, सूर्य चन्द्र आदि देवोंकी पुण्यकी ऋद्धिसे बहुत अधिक होती है, उसका वर्णन शास्त्रमें है। वहाँ अति उज्ज्वल अत्यधिक पुण्यके समूहका योग है। उनसे भी अधिक पुण्यके कर्मरजकणोंका योग हो तो भी मुनिको उनकी महिमा नहीं है।—क्योंकि वह तो ज्ञाता रहकर जानता है कि पुद्गलकी अनेक विचित्रतासे चैतन्यका अश मात्र भी गुण नहीं है। उनमें राग द्वारा मैं अटकूँ तो मेरे उपाधिका बन्धन हो। अपना जो अनन्त सुखस्वरूप लक्ष में है उसे पूर्ण करनेका पुरुषार्थ बढ़ाने और स्वरूप प्रकट करनेका उत्साह रहता है किसी निमित्तमें अटकने-का भाव उनके नहीं है। इस १२ वीं गाथा पर्यंत चारित्र मोहको क्षय करनेकी भावना है।

अब शेष नौ गाथाओंमें सूक्ष्म चर्चा है। एक एक शब्द ऊपर विस्तार करनेसे दिवस बीत जायें इसलिये सक्षेपमें कथन करना

पड़ता है, उसमें जो आशय हो उसको विचारना चाहिए। अहा! सर्वथा कषायरहितकी चर्चा आनेवाली है। इस कालमें इस क्षेत्रमें मोक्ष प्राप्ति नहीं है किन्तु फिर भी १२ वीं गाथामें वर्णित सातवें गुण-स्थानका पुरुषार्थ अर्थात् चारित्र प्रकट करे तो हो सके ऐसा समय तो है।

आगेकी नौ गाथाओंमें वर्णित क्षपक श्रेणि, शुक्ल ध्यानका पुरुषार्थ इस कालमें नहीं है सो भी भावना तो भाई जा सकती है। प्रथम आत्माकी सच्ची पहचान और श्रद्धाको दृढ़तर करनेका पुरुषार्थ और अभ्यास करना चाहिए। सत्समागम बिना अपूर्व अवसर की प्राप्ति नहीं होती। जैसे सेनामें नौकरी करनी हो तो उसे सब प्रथम निशानेबाजी सीखनेका अभ्यास करना पड़ता है और वह अभ्यास मौके पर काम आता है उसी प्रकार धर्मात्मा मुमुक्षुको प्रारम्भ से ही तत्त्वज्ञानके अभ्यासपूर्वक अपूर्व अवसरकी भावनामें लीन होना चाहिए।

सम्यग्दर्शन होनेके बाद मुमुक्षुको चारित्रकी भावना दृढ़ता पूर्वक बढ़ती जाती है—और अनाहारक, अशरीरी कैसे होऊँ यह विचार आता है। बहुतसे लोग मानते हैं कि आहार बिना शान्ति नहीं हो किन्तु बहुतसी बार देखा जाता है कि आहारके बिना भी अशान्ति नहीं होती जैसे कि व्यापारमें एक घण्टेमें सौ रुपयेका लाभ मिलता हो तो संसारी जीव लोभके वश एक समयका भोजन खाना भूल जाय और कहे कि आज भूख नहीं लगी। इस प्रकार संसार भाव रहित अपूर्व आनन्दका अवसर पाकर अकषाय अलोभ

दृष्टिके लक्ष्यमें आहार सहज ही छूट जाता है। संसारी जीव अवगुण-के लक्ष्यमें आहार लेना भूल जाते हैं उसी प्रकार साधक जीवोंके अनाहारक शुद्धस्वभावके लक्ष्यमें अकषायसे परिपुष्ट पुरुषार्थकी जागृति-से छह छह महिना आहार सहज छूट जाता है। —आहारकी इच्छा भी नहीं हो। ऐसी दशामें आत्म शान्ति या परम संतोष होता है उससे बाह्यवृत्ति या आकुलता नहीं होती।

ऋषभदेव भगवानको बारह मासके पारणेमें ईखका रस मिला किन्तु अन्तरंगमें अखण्ड समताकी मुख्यता होनेसे हर्ष नहीं था। भक्त इच्छा करते हैं कि धन्य घड़ी। सुपात्रको आहार दान धन्य! हमारे निमित्तसे मुनिश्वरको संयम साधनका पोषण मिला, ऐसा वीतराग भाव सदा बना रहो। उससे दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि संयमकी पुष्टि होगी,इस प्रकार भक्तिभावसे भक्त हर्ष करे और भावना भावे कि ऐसा अपूर्व अवसर मुझे कब आवेगा? ॥१२॥

एम पराजय करीने चारित्र मोहनो,
आवुं त्यां ज्यां करण अपूर्व भाव जो।
श्रेणी क्षपकतणी करीने आरूढता,
अनन्य चिंतन अतिशय शुद्ध स्वभाव जो ॥अपू०॥१३

इस प्रकार जो चारित्रमोह या अस्थिरताका, निश्चय अचल स्वरूपकी स्थिरता द्वारा क्षय करनेका पुरुषार्थ प्रकट करता है उसके बुद्धि पूर्वक विकल्प नष्ट होकर स्थिरता विकसित होती है उस स्थिति-को अप्रमत्त दशा कहते हैं। छट्ठे-सातवें गुणस्थानमें अनन्तानुबन्धी आदि तीन कषायोंकी चौकडीका अभाव रहता है किन्तु चारित्र गुण

में कुछ मलिनता रहती है। अप्रमत्त गुणस्थानमें बुद्धिपूर्वक विकल्प या रागका अंश नहीं रहता है, उसमें सूक्ष्म कषाय अंश रहता है जो केवलीगम्य है। इससे आगे आठवें गुणस्थानमें क्षपक श्रेणीका प्रारम्भ है यहाँ उपशम नहीं है किन्तु वहाँ चारित्रमोहको क्षय करनेरूप क्षपकश्रेणीका उग्र पुरुषार्थ है। क्षपकश्रेणी शुक्लध्यानका प्रथम चरण है। इस गुणश्रेणीमें प्रति समय अनन्त गुणी परिणाम विशुद्धि बढ़ती जाती है। जैसे स्वर्णको शुद्ध करते समय भट्टीमें १५ वें ताव के बाद १६ वें तावके अन्तमें उसे पूर्ण शुद्ध पाते हैं उसी प्रकार १२ वें गुणस्थानमें शुक्लध्यानका दूसरा चरण शुरू होनेके बाद १३ वें गुणस्थानमें ४ घातिया कर्मोंका नाश होकर सम्पूर्ण निर्मल केवलज्ञान प्रकट होता है। सर्वज्ञ प्रभुके उस केवलज्ञानमें एक समयमें सर्व विश्व (सर्व जीव अजीव वस्तु सामान्य विशेष रूपसे) प्रतिभासित होता है। इस केवलज्ञानका स्वरूप युक्ति आगम और स्वानुभवसे सिद्ध है।

यहाँ चारित्र मोहके क्षय और शुक्ल ध्यानकी क्षपक श्रेणीके उग्र पुरुषार्थकी चर्चा है। बारहवें गुणस्थान तक जीवकी साधक दशा है। चारित्र मोहका उदय दसवें गुणस्थान तक रहता है। ग्यारहवें गुणस्थानमें चारित्र मोहका उदय नहीं होता, बारहवें गुणस्थानमें चारित्र मोहका सर्वथा क्षय होता है। यह जीव क्षपक श्रेणी प्रारम्भ कर आठवें गुणस्थानसे, बीचमें नहीं रुकता हुआ आगे बढ़ता हुआ दो घड़ीमें केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तसुख अनन्त वीर्य, आ शक्तिरूप में अवस्थित था का प्रकट करता है। जिसे उस उत्कृष्ट अपरिमित सुख-की रुचि हुई है उस साधकके कहीं रुकनेकी प्राप्ति नहीं होती। इस

प्रकारका निर्ग्रंथ मुनिमार्ग ही तीनों कालमें सनातन मोक्षमार्ग है। विदेह क्षेत्रमें भी त्रिकाल यही मुनिमार्ग है।

"करण" का अर्थ परिणाम है। चारित्रके अपूर्वकरणका अर्थ है पूर्ण स्थिरता लानेका तथा केवलज्ञान, केवलदर्शन प्रकट करनेका प्रयोग अर्थात् स्वरूप स्थिरताकी श्रेणीमें आरूढ होना। सम्यग्दर्शन होनेसे जो अपूर्वकरणरूप परिणाम होता है उसकी यहाँ बात नहीं है। इस अपूर्वकरणमें समय-समयमें अनन्त गुणी शुद्धिकी वृद्धि द्वारा जीव पूर्ण अकषाय स्वरूप बनानेवाले पुरुषार्थको करनेके लिए शुक्लध्यानकी श्रेणीमें प्रवेश करता है। इस अपूर्व करणमें पहले नहीं हुई ऐसी विशुद्ध परिणामोंकी एकाग्रता रहती है। इस स्वरूप स्थिरतामें एकाकार, तन्मय, अखण्ड, धाराप्रवाही ज्ञानकी एकाग्रता और गुणकी उज्ज्वलता प्रतिक्षण बढती जाती है।

जो कुछ चारित्र मलका सूक्ष्म उदय हो भी हो तो उसे भी क्षपक श्रेणी द्वारा टालता हुआ साधक स्वरूप श्रेणीकी लीनतामें आरूढ़ होता हुआ "अनन्य चिंतन अतिशय शुद्ध स्वभाव"की दशा प्रकट करता है। यहाँ बिल्कुल एकरूपता रहती है।

कुशल घुडसवारको लाख रुपएके मूल्यवाले घोड़े पर आरूढ होनेके बाद पाँच गाँवोंका अन्तर पूरा करनेमें कितनी देर लगे? उसी प्रकार अपूर्व करणकी स्थिरता द्वारा स्वरूप रमणतामें जो साधक एकाग्र हो गया उसे केवलज्ञानकी प्राप्तिमें कितनी देर लगे? नहीं लगे। अनन्य चिंतन द्वारा अतिशय शुद्ध अतीन्द्रिय ज्ञानस्वरूपमें मेरी लीनता बढ़ती जाय और उसमें आरूढ़ होकर क्षपक श्रेणी शुरू

में कुछ मलिनता रहती है। अप्रमत्त गुणस्थानमें बुद्धिपूर्वक विकल्प या रागका अंश नहीं रहता है, उसमें सूक्ष्म कषाय अंश रहता है वो केवलीगम्य है। इससे आगे आठवें गुणस्थानमें क्षपक श्रेणीका प्रारम्भ है यहाँ उपशम नहीं है किन्तु यहाँ चारित्रमोहको क्षय करनेरूप क्षपकश्रेणीका उग्र पुरुषार्थ है। क्षपकश्रेणी शुक्लध्यानका प्रथम चरण है। इस गुणश्रेणीमें प्रति समय अनन्त गुणी परिणाम विशुद्धि बढ़ती जाती है। जैसे स्वर्णको शुद्ध करते समय भट्टीमें १४ वें ताव-के बाद १६ वें तावके अन्तमें उसे पूर्ण शुद्ध पाते हैं उसी प्रकार १२ वें गुणस्थानमें शुक्लध्यानका दूसरा चरण शुरू होनेके बाद १३ वें गुणस्थानमें ४ घातिया कर्मोंका नाश होकर सम्पूर्ण निर्मल केवलज्ञान प्रकट होता है। सर्वज्ञ प्रभुके उस केवलज्ञानमें एक समयमें सर्व विश्व (सर्व जीव अजीव वस्तु सामान्य विशेष रूपसे) प्रतिभासित होता है। इस केवलज्ञानका स्वरूप युक्ति आगम और स्वानुभवसे सिद्ध है।

यहाँ चारित्र मोहके क्षय और शुक्ल ध्यानकी क्षपक श्रेणीके उग्र पुरुषार्थकी चर्चा है। बारहवें गुणस्थान तक जीवकी साधक दशा है। चारित्र मोहका उदय दसवें गुणस्थान तक रहता है। ग्यारहवें गुणस्थानमें चारित्र मोहका उदय नहीं होता, बारहवें गुणस्थानमें चारित्र मोहका सर्वथा क्षय होता है। यह जीव क्षपक श्रेणी प्रारम्भ कर आठवें गुणस्थानसे, बीचमें नहीं रुकता हुआ आगे बढ़ता हुआ वो अवीर्में केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तसुख अनन्त वीर्य, जो शक्तिरूप में अवस्थित था को प्रकट करता है। जिसे उस उत्कृष्ट अपरिमित सुख-की रुचि हुई है उस साधकको कहीं रुकनेकी प्रवृत्ति नहीं होती। इस

मिथ्याज्ञान एव मिथ्याचारित्र होते हैं, उसकी श्रद्धा ज्ञान और आचरण असत्य हैं।

दूसरा गुणस्थान चौथे गुणस्थानसे वापस आनेवालोंके होता है। चौथे गुणस्थानमें सम्यग्दर्शन होकर शुद्ध आत्म स्वरूपका ज्ञान होता है। जब देहादि तथा रागादिसे भिन्न केवल चैतन्य स्वरूपका ज्ञान होता है तब स्वानुभव-स्वरूपाचरण प्रकट होता है किन्तु चारित्र-गुण पूर्ण रूपसे प्रकट नहीं हुआ।

पाँचवाँ देशविरति गुणस्थान है उसमें आंशिक स्थिरता है, यह देशविरति कहलाता है। उसके बाद छट्ठे व सातवें गुणस्थानमें सर्वविरतिरूप मुनिपणा है।

आठवें अपूर्वकरण गुणस्थानमें जिसके क्षपक श्रेणी होती है उसके अतिशय शुद्ध स्वभावमय पवित्र दशा बढती जाती है। तत्पश्चात् क्रमशः नववाँ एवं दसवाँ गुणस्थान होता है वहाँ से सीधा बारहवाँ गुणस्थान होता है। वहाँ मोहका क्षय कर जीव तेरहवे गुणस्थानमें सयोगी केवली, जिन, वीतराग, सर्वज्ञ भगवान होता है तब उसके अनन्तचतुष्टय पूर्णरूपसे प्रकट होते हैं इस गाथामें बारहवें क्षीण मोह गुणस्थानके अंतिम समयकी बात है—

श्रीमद्ने मोहको स्वयभूरमण समुद्रकी उपमा दी है उस समुद्रकी माप असीम विस्तारवाली है। दो हजार कोस का एक योजन और ऐसे असख्यात योजनका यह महा समुद्र है। यह मध्य-लोकको तिर्यक् लोक कहनेमें आता है और उस मध्यमें जबूद्वीप एक लाख योजनके विस्तारवाला थालीके आकार है। उसके आगे

करूँ ऐसा अवसर शीघ्र प्राप्त हो, यह भावना श्रीमद्‌ने इस पदमें की है ॥ १३ ॥

[सा० ५ १९-२६]

अब श्रीमद् १४ वीं गाथामें केवलज्ञान प्रकट होनेकी भावना करते हैं —

मोह स्वयंभूरमण समुद्र तरी करी,
स्थिति त्यां ज्यां क्षीण मोह गुणस्थान जो ।
अंत समय त्यां पूर्ण स्वरूप वीतराग थई,
प्रकटावुं निज केवलज्ञान निधान जो ॥ अपू०॥१४

जैसे राज महलमें आनेके लिए सीढ़ियाँ होती हैं वैसे ही अपने सहज स्वरूप स्वराज महलमें आनेवालेका लक्ष्य अपना पूर्ण पवित्र मोक्ष-स्वरूप है। जैसे महलमें आने के लिये नीचेकी सीढ़ियाँ छूटती जाती हैं वैसे ही स्वराज महलमें आनेके लिये चौदह गुणस्थानरूप सीढ़ियाँ हैं। पहला गुणस्थान मिथ्यात्व है। उस गुणस्थानवाले बहिरात्म जीवोंको अपने वास्तविक आत्मस्वरूपका ज्ञान नहीं है। बहिरात्मा यह नहीं मानता कि मैं केवल ज्ञाता-दृष्टा, वीतराग, चिदानन्द शाश्वत हूँ। अंतर में ही स्वाधीन सुख, बेहद आनन्द, शान्ति है ऐसा उसे विश्वास नहीं होता। वह परवस्तु-देहादि, रागद्वेष, पुण्य पापको अपना मानता है। वह देहादि बाह्य संयोगोंमें इष्ट अनिष्ट और सुख दुःखकी मिथ्या कल्पना कर रागद्वेषका कर्ता और हर्ष शोकका भोक्ता बन जाता है। वह मोही जीव जो कुछ मानता है जानता है आचरण करता है वह सब उल्टा है इसलिये उसके श्रद्धान, ज्ञान एवं आचरण मिथ्यादर्शन,

मिथ्याज्ञान एवं मिथ्याचारित्र होते हैं,उसकी श्रद्धा ज्ञान और आचरण असत्य हैं।

दूसरा गुणस्थान चौथे गुणस्थानसे वापस आनेवालोंके होता है। चौथे गुणस्थानमें सम्यग्दर्शन होकर शुद्ध आत्म स्वरूपका ज्ञान होता है। जब देहादि तथा रागादिसे भिन्न केवल चैतन्य स्वरूपका ज्ञान होता है तब स्वानुभव-स्वरूपाचरण प्रकट होता है किन्तु चारित्र-गुण पूर्ण रूपसे प्रकट नहीं हुआ।

पॉचवॉ देशविरति गुणस्थान है उसमें आंशिक स्थिरता है, यह देशविरति कहलाता है। उसके बाद छट्ठे व सातवें गुणस्थानमें सर्वविरतिरूप मुनिपणा है।

आठवें अपूर्वकरण गुणस्थानमें जिसके क्षपक श्रेणी होती है उसके अतिशय शुद्ध स्वभावमय पवित्र दशा बढती जाती है। तत्पश्चात् क्रमश: नववॉ एवं दसवॉ गुणस्थान होता है वहॉ से सीधा बारहवॉ गुणस्थान होता है। वहॉ मोहका क्षय कर जीव तेरहवें गुणस्थानमें सयोगी केवली, जिन, वीतराग, सर्वज्ञ भगवान होता है तब उसके अनन्तचतुष्टय पूर्णरूपसे प्रकट होते हैं इस गाथामें बारहवें क्षीण मोह गुणस्थानके अतिम समयकी बात है—

श्रीमद्‌ने मोहको स्वयभूरमण समुद्रकी उपमा दी है उस समुद्रकी भाप असीम विस्तारवाली है। दो हजार कोस का एक योजन और ऐसे असख्यात योजनका यह महा समुद्र है। यह मध्य-लोकको तिर्यक् लोक कहनेमें आता है और उस मध्यमें जबूद्वीप एक लाख योजनके विस्तारवाला थालीके आकार है। उसके आगे

एक दूसरेको घेरे हुए वलयाकार असंख्यात द्वीप समुद्रोंकी परंपरा है उसमें अन्तिम स्वयंभूरमण समुद्र है।

साधक यह विचारता है कि जैसे मोह महासमुद्र जैसा है वैसे ही मेरे में भी उससे भी अनन्तगुणी अपरिमित वीर्य शक्ति है इससे मैं प्रगटदशामें आत्माकी इतनी असीम स्थिरताको बढ़ाऊँ कि उससे मोह सर्वथा दूर हो जाय। और मैं जैसा शुद्ध पवित्र ज्ञानघन हूँ वैसा प्रगट दशामें बन रहूँ, स्वरूपमें अत्यन्त सावधानी रखूँ जिससे चारित्र मोह स्वयं क्षय हो जावे।

अज्ञानी मोही जीव अनादि कालसे अपनी भूलके कारण संसारमें भ्रमण करता है। वह परद्रव्य परभावमें अपनतवका भ्रम करनेसे अपनेमें सुख शांति है यह नहीं मानता। उसने परवस्तु में सुख शांतिकी कल्पना की है। जीव अपनी भूलसे रागद्वेष, अज्ञान द्वारा महा अविवेकी हुआ है। साधक जीवने उस भूलको सत्समागम और सद्विवेक द्वारा दूर की है। चारित्र मोहकी शक्तिके सम्बन्धमें वह कहता है कि उस मोहकी शक्तिसे अनन्तगुणी शक्ति चैतन्यमें है किन्तु अल्प अस्थिरता है उसको दूर कर क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होकर आठवें, नवमें दसमें गुणस्थानकमें आकर अतिशय शुद्ध स्वभावकी अधिक उज्ज्वल स्थिरताको बढ़ाते हुए चारित्र मोहका क्षय कर क्षीणमोह नामक १२ वाँ गुणस्थान प्राप्त करूँ। इसीसे पूर्ण स्थिरता अर्थात् शुद्ध स्वभावकी लीनतामें अकेला चैतन्य आनन्दघन शांत रसका अनुभवन होता है।

अब वीतराग दशा पूर्ण करनेका जीव स्वरूपमें बढ़ता है तब उसको "प्रकटाऊँ निज केवलज्ञान निधान जो" ऐसी दशा होती है।

जो शक्तिरूपमें है उसे पूर्णरूपसे प्रकटते हुए अनन्त आनन्द और केवलज्ञान लक्ष्मी प्रकट होती है।

केवलज्ञानमें परको जाननेका लक्ष्य या विकल्प नहीं है फिर भी पर जाना जाता है ऐसा सहज स्वभाव है। आत्म स्वभावमें अपरिमित केवलज्ञान भरा हुआ है। उस पूर्णताके लक्ष्यमें पुरुषार्थ कर पूर्ण स्थिर होऊँ तो केवलज्ञान ज्योति और वीतराग सर्वज्ञ परमात्मपद प्रकटे ऐसा साधक जानता है। पूर्ण शुद्ध चेतना स्वरूप और केवलज्ञान निधान जीवके लक्ष्य हैं। केवलज्ञानको अनन्त चक्षु या सर्वचक्षु भी कहा है।

केवलज्ञानमें लोक अलोक (सम्पूर्ण विश्व) अणु की तरह त्रैकालिक द्रव्य गुण पर्याय सहित एक समयमें स्पष्ट दिखता है। यह अचिंत्य असीम ज्ञान शक्तिवाला केवलज्ञान, प्रत्येक चैतन्यमय आत्माके स्वद्रव्य और स्वभावमें त्रिकाल शक्तिरूपसे विद्यमान रहता है, उसका कोई समय अभाव नहीं है। "सर्व जीव छै सिद्ध सम, जे समजे ते थाय।" गृहस्थावस्थामें पूर्णताके लक्ष्यमें यह भावना की है कि मैं जल्दी केवलज्ञान लक्ष्मी प्रकट करूँ। साधक सर्वप्रथम सिद्ध परमात्मा जैसा शुद्ध आत्मस्वरूप है वैसा यथार्थरूपसे जानकर परमपद प्राप्तिकी भावना करता है।

सब प्रकारसे त्रिकाली आत्मद्रव्यको जैसा है वैसा जाननेसे ही सच्चा समाधान हो और अज्ञानमय रागद्वेष नहीं हो। "आकुलता (अशान्ति) रहित केवल समता अर्थात् असीम आनन्दमय परम सुख मेरे में ही है" जिसे ऐसा यथार्थ अनुभव (स्वसवेदन) होनेके बाद बाह्य वृत्तिकी तरफ रुचि नहीं रहती और इससे उसके केवलज्ञान

की भावना होती है। इस स्वरूपकी पूर्णता जल्दी प्रकटे यह भावना इस गाथामें की गई है।

केवलज्ञान प्रकट होने पर आत्माकी कैसी दशा होती है यह बताते हैं —

> चार कर्म घनघाती ते व्यवच्छेद ज्यां,
> भवना बीजतणो आत्यन्तिक नाश जो;
> सर्वभाव ज्ञाता दृष्टा सह शुद्धता,
> कृत कृत्य प्रभु वीर्य अनन्त प्रकाश जो ।।अपू०।।१४।।

तेरहवें गुणस्थानमें आत्माकी पूर्ण, शुद्ध, पवित्र केवलज्ञान दशा प्रकट होती है, संसारके मूलका नाश होता है, चार घातिया कर्मोंका नाश होता है। अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्यकी हीनतामें चार घातियाकर्म-ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय क्रमश निमित्त हैं। स्वयं विपरीत परिणमें तो वे निमित्त कहलाते हैं। कर्म घनघाती है वो आत्मा ज्ञानघन है कर्मका स्वभाव बन्धरूप है और आत्माका स्वभाव मोक्ष है। जिसने इसतत्व-भावको पहचान लिया उसे जड़कर्मोंका बल नहीं दिखता। तेरहवें गुणस्थानमें चार घातिया कर्मोंका क्षय होता है और उससे संसारके बीजका नाश होता है। चार अघातिया कर्म वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र जली हुई रस्सीकी तरह रहते हैं किन्तु वे स्वरूपको विघ्न-रूप नहीं हैं।

"सर्व भाव ज्ञाता दृष्टा सह शुद्धता" को निश्चयसे केवल निज स्वभावके अखण्ड ज्ञान वर्तता है ऐसा समझना वास्तविक

परमार्थ है। किन्तु अज्ञानी यह मानता है कि केवलज्ञान होनेसे लोक और अलोक दिखते हैं, उसको लोकालोक देखनेमें ही माहात्म्य लगता है, यह उसकी बाह्य दृष्टि है (व्यामोह है)। दूसरे ज्ञेयोंको जाननेका व्यामोह पराश्रित भाव है उससे यह होता है कि अतरंग चेतनमें स्वज्ञेयमें, जानने योग्य कुछ नहीं है ऐसा अज्ञानी मानता है जब कि ज्ञानीके अपने स्वरूपके अखण्ड ज्ञान ऊपर दृष्टि है। 'परज्ञेयोंका जानना केवलज्ञान है' यह निमित्तका उपचार कथन है। पर अपने पुरुषार्थसे पूर्ण केवलज्ञान स्वाधीनरूपसे प्रकट होता है उसमें परको जाननेकी इच्छा नहीं है। जब केवल अपने स्वभावका अखण्ड निर्विकल्प ज्ञान रहता है तब परवस्तु अर्थात् जगतके अनन्त पदार्थ उस निर्मल ज्ञानमें सहज ही जाने जाते हैं इसकी सिद्धि इस गाथामें की गई है।

"सर्व भाव ज्ञाता-दृष्टा सह शुद्धता" अर्थात् सर्व द्रव्य क्षेत्र काल और भाव एक समयमें उस केवलज्ञानमें सामान्य और विशेष-रूपसे एक साथ सहज ही जाने जाते हैं।

जगतमें अनन्त जीव और अजीव हैं स्वतत्र द्रव्य हैं उनमें प्रत्येक द्रव्यमें सामान्य और विशेषपना है। सामान्य सत्ताके अवलोकन व्यापाररूप दर्शन गुणमें सर्व विश्वको देखना सहज ही हो जाता है। उसी समय उन सभी द्रव्योंकी एक समयमें होनेवाली उत्पाद व्यय स्वरूप अवस्था विशेष भी ज्ञानोपयोगमें सहज ही आ जाती है अपना अखण्ड ज्ञानदर्शन एक साथ प्रवर्तता है।

आत्माकी श्रद्धा होनेके बाद स्वरूपकी रुचि और भावना

(एकाग्रता) बढ़ते पूर्ण स्थिरताके अवलम्बन द्वारा पूर्ण शुद्धता प्रकटी है। तेरहवें गुणस्थानमें भावमोक्ष दशा है। उसमें अनन्त ज्ञान, अनंत दर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्यकी दशा ही "सहज शुद्धता" है। अनन्त वीर्य पूर्णरूपसे प्रकट हुआ इसीसे "कृत कृत्य प्रभु वीर्य अनंत प्रकाश जो" यह दशा होती है। यह वीर्यगुण आत्माके सर्व गुणोंको स्थिर रखनेवाला है; ऐसा कृत कृत्य वीर्य (स्वरूपका बल) उस सहज स्वभावमें एकरूप है।

प्रश्न—यह पूर्ण कृतकृत्य शुद्ध स्वभाव कैसे प्रकट हुआ अर्थात् प्राप्त की प्राप्ति कौन से क्रम से हुई ?

उत्तर—जीव अनादि कालसे भेदज्ञानरहित होने के कारण देहादि, पुण्य-पाप, रागादि जड़ कर्ममें एकत्वसे (यह मेरे हैं ऐसी मान्यतासे) अहंभाव पूर्वक बन्धनमें रुका था। उसके सत्समागम द्वारा आत्माके शुद्ध स्वरूपकी यथार्थ प्रतीति करते हुए स्व और परका विवेक जागृत हुआ और उसने स्वानुभवकी दशा जागृत की। 'मैं शुद्ध हूँ' ऐसी यथार्थ श्रद्धा और भेदज्ञान सहित स्थिरताके अभ्यास द्वारा चारित्र मोह क्षय कर निराकुल आनन्द, केवल सुख शान्ति स्वरूप-की प्राप्ति हुई क्योंकि भाव मोहका अभाव होने से आवरण नहीं रहा।

बारहवें गुणस्थानसे चारित्र मोहका क्षय होनेसे पूर्ण वीतरागता-की शुद्धता प्रकटती है। अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन अनन्तसुख और अनन्त वीर्यकी पूर्ण शुद्धता प्रकट होनेमें अन्तमुहूर्त लगता है। उसमें सहज पुरुषार्थ द्वारा ज्ञानावरण, दर्शनावरण मोहनीय और अन्तरायका क्षय हो जाता है। थोड़े समयमें अनन्त चतुष्टय सुखभावरूपी केवलज्ञान ज्योति प्रकट होती है। रागद्वेषरूप मोहकर्म

का सर्वथा नाश करनेसे वह जिन कहलाता है। पूर्ण कृतकृत्य होने-से वह 'परमात्मा' कहलाता है। वह इस प्रकार ईश्वर, शिवस्वरूप, जिनेश्वर, भगवान, वीतराग आदि अनेक नामोंसे सम्बोधित होता है। सम्पूर्ण ज्ञानदशाको 'सर्वभावान्तरच्छिद्रे' भी कहते हैं। उसका अर्थ यह है कि केवलज्ञानसे स्वय और स्वयसे भिन्न समस्त जीव अजीव चराचर पदार्थ तथा उनके समस्त क्षेत्र, काल भाव एक ही समयमें स्वाभाविकरूपसे सामान्य और विशेषरूपसे स्पष्ट जाने जाते हैं।

निश्चय से, अपने अतिम पुरुषाकार अरूपी ज्ञानपिंडमें केवल निज स्वभावका अखण्ड ज्ञानदर्शन एक ही समयमें रहता है। देह रहते हुए जीवके जो सर्वज्ञदशा होती है वह तेरहवाँ गुणस्थान है। केवलज्ञान अनतको जानता है किन्तु केवलज्ञानमें सम्पूर्ण सर्वज्ञता नहीं है इस मान्यताका निराकरण उक्त कथनसे होता है।

एक ही आत्मा नहीं अपितु अनन्त आत्माएँ हैं यह सिद्ध हुआ। अनन्त अजीव अचेतन पदार्थ हैं। ईश्वर, सर्वज्ञ,भगवान या परमात्मा जो कुछ कहो वह जगतकी व्यवस्थाका करनेवाला नहीं है यह भी साथमें सिद्ध हुआ। "मैं शुद्ध हूँ" ऐसी जिसे आत्माकी अपूर्व रुचि है वह देहादि बाह्य निमित्तको तथा काल कर्मके कारणको नहीं देखता है किन्तु वह पूर्ण शुद्ध स्वरूप प्रकट करनेकी ही भावना निरन्तर करता है।

यदि ससारकी रुचिवालेके कभी पुण्ययोगसे एक भी बच्चा हो जाय तो उसके विवाहोत्सव करनेका उल्लास अनेक दिन

(एकाग्रता) बढ़ते पूर्ण स्थिरताके अवलम्बन द्वारा पूर्ण शुद्धता प्रकटी है। तेरहवें गुणस्थानमें भावमोक्ष दशा है। उसमें अनन्त ज्ञान, अनंत दर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्यकी दशा ही "सहज शुद्धता" है। अनन्त वीर्य पूर्णरूपसे प्रकट हुआ इसीसे "कृत कृत्य प्रभु वीर्य अनंत प्रकाश जो" यह दशा होती है। यह वीर्यगुण आत्माके सर्व गुणोंको स्थिर रखनेवाला है; ऐसा कृत कृत्य वीर्य (स्वरूपका बल) उस सहज स्वभावमें एकरूप है।

प्रश्न—यह पूर्ण कृतकृत्य शुद्ध स्वभाव कैसे प्रकट हुआ अर्थात् मार्ग की प्राप्ति कौन से क्रम से हुई ?

उत्तर—जीव अनादि कालसे भेदज्ञानरहित होने के कारण देहादि, पुण्य-पाप, रागादि जड़ कर्ममें एकत्वसे (यह मेरे हैं ऐसी मान्यतासे) अहंभाव पूर्वक बन्धनमें रुका था। उसके सत्समागम द्वारा आत्माके शुद्ध स्वरूपकी यथार्थ प्रतीति करते हुए स्व और परका विवेक जागृत हुआ और उसने स्वानुभवकी दशा जागृत की। 'मैं शुद्ध हूँ' ऐसी यथार्थ श्रद्धा और भेदज्ञान सहित स्थिरताके अभ्यास द्वारा चारित्र मोह क्षय कर निराकुल आनन्द, वेदन,सुख शान्ति स्वरूप की प्राप्ति हुई क्योंकि भाव मोहका अभाव होने से आवरण नहीं रहा।

बारहवें गुणस्थानसे चारित्र मोहका क्षय होनेसे पूर्ण वीतरागता-की शुद्धता प्रकटती है। अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्त वीर्यकी पूर्ण शुद्धता प्रकट होनेमें अन्तर्मुहूर्त लगता है। उसमें सहज पुरुषार्थ द्वारा ज्ञानावरण, दर्शनावरण मोहनीय और अन्तरायका क्षय हो जाता है। थोड़े समयमें अनन्त चतुष्टयमय सुखस्वरूपी केवलज्ञान ज्योति प्रकट होती है। रागद्वेषरूप भावकर्म

बात है किन्तु उसकी भावना तो अधिकाधिक की जा सकती है। सम्यग्दृष्टिके अभिप्रायमें परमाणुमात्रकी इच्छा नहीं है, उसके देहादि समस्त परद्रव्योंमें निर्ममत्व भाव रहता है। उसके हेय उपादेय-का यथार्थ विवेक रहता है। 'मैं पूर्ण शुद्ध सिद्धके समान हूँ इसलिए वैसा ही बनूँ' यही एकत्वका सम्यग्दृष्टिको आदर रहता है, और उसकी भावना रहती है। वह पुरुषार्थके अपूर्व अवसरकी भावना तो वर्तमानमें कर ही सकता है।

इस कालमें भी सर्वज्ञ भगवान तीर्थंकर प्रभुने एकावतारी जीव बताए हैं। स्वरूपकी यथार्थ श्रद्धा, स्वरूपके लक्ष्यमें जिन आज्ञा-का विचार, वीतराग स्वरूपका चिंतवन, स्वरूप स्थिरताकी उत्कृष्ट रुचिका ही रात दिन मनन–अभ्यास, उत्साह, जागृति इस कालमें भी हो सकते हैं। ससारका प्रेम रोम तकमें भी नहीं रहे और वीतराग चारित्रकी भावना निरन्तर भाता है।

ऐसा धर्मात्मा अपनी कमजोरीसे गृहस्थ दशामें होता है। उस दशा होने पर भी धर्मात्माको एक भवावतारी होनेका असदिग्ध (नि शक) विश्वास होता है। यह केवल कथन मात्र नहीं है। अपूर्व दशा, अपूर्व विचार और सच्चे आत्मधर्मकी रुचि किसको होती है? स्थिर शान्त चित्तसे कौन विचार करें? ससारी जीव ससारकी उपाधिमें सुख मानता है। मान, प्रतिष्ठा, घर, कुटुम्ब और देहादिके व्यवसायकी ममता छोडकर थोड़ी भी निवृत्ति धारण कर इस तत्त्व-का कौन विचार करता है? ससारी जीवोंमें खोटी प्रवृत्तियोंने जड़ जमा ली है इससे खाने पीने आदि अनेक प्रकारकी शारीरिक कुशलतासे निवृत्ति नहीं मिलती है। भोजनमें भी कितनी गृद्धता

पहले ही आ जाता है। उस सम्बन्धमें चिन्तन हुआ करे उसकी माँ भी उनके अनेक गीत गाकर प्रेम प्रकट करती है, उसकी आवाज भी बैठ जाती है, वह रात दिनके जागरण और थकावटको कुछ भी नहीं गिनती। इस विवाह प्रसंगमें वह तल्लीन रहती है, ऐसा विपरीत पुरुषार्थ संसारकी रुचिवाले करते हैं वे अन्य बात नहीं सुनते। न याद करते।

अब उसके दूसरा मोड़ लेनेका अर्थ है संसारकी रुचिको अपने पुरुषार्थ द्वारा हराता है मैं शुद्ध ज्ञानघन हूँ, पुण्य पाप, रागादि रहित अक्रिय ज्ञानमात्र हूँ ऐसी यथार्थ श्रद्धा और परसे भिन्नत्वका ज्ञान होनेसे अपने पूर्ण शुद्ध स्वरूपको प्रकट करनेकी भावना उत्कृष्ट रुचि द्वारा आता है साधक गिरनेकी बात याद नहीं करता और अन्य-को नहीं देखता और बाह्य देहादि निमित्त कारणों तथा कालके कारणों-को नहीं देखता क्योंकि उनकी श्रद्धामें अपूर्व मांगलिक है, उसे पूर्ण स्वरूप प्राप्तिका महान उत्साह रहता है।

देखो तो सही! श्रीमद् गृहस्थावस्थामें थे उनकी २९ वर्षकी युवा अवस्था थी किन्तु फिर भी उनकी अतीन्द्रिय भावनामें पूर्ण आत्मा और साधक स्वभावकी लगन थी। श्रीमद् ४ वर्ष बाद ही समाधिमरण धारण करनेवाले थे। ऐसी अपूर्व जागृति कैसी होगी। 'एक भवमें मोक्षस्वरूप प्रकट होगा' ऐसी भावना इसप्रकारका विश्वास और दृढ़तर उत्कृष्ट रुचि कैसी होगी। ऐसा विचार, मनन चिंतन आत्मामें करने योग्य है। यथार्थ श्रद्धा होनेके बाद उसकी रुचि और प्राप्तिके लिये पुरुषार्थ बढ़ता जाता है। इसप्रकारकी प्रगट चारित्र दशा (निर्ग्रंथ मुनिदशा) भी वर्तमानमें न हो सके यह भिन्न

बात है किन्तु उसकी भावना तो अधिकाधिक की जा सकती है। सम्यग्दृष्टिके अभिप्रायमें परमाणुमात्रकी इच्छा नहीं है, उसके देहादि समस्त परद्रव्योंमें निर्ममत्व भाव रहता है। उसके हेय उपादेय-का यथार्थ विवेक रहता है। 'मैं पूर्ण शुद्ध सिद्धके समान हूँ इसलिए वैसा ही बनूँ' यही एकत्वका सम्यग्दृष्टिको आदर रहता है, और उसकी भावना रहती है। वह पुरुषार्थके अपूर्व अवसरकी भावना तो वर्तमानमें कर ही सकता है।

इस कालमें भी सर्वज्ञ भगवान तीर्थंकर प्रभुने एकावतारी जीव बताए हैं। स्वरूपकी यथार्थ श्रद्धा, स्वरूपके लक्ष्यमें जिन आज्ञा-का विचार, वीतराग स्वरूपका चिंतवन, स्वरूप स्थिरताकी उत्कृष्ट रुचिका ही रात दिन मनन-अभ्यास, उत्साह, जागृति इस कालमें भी हो सकते हैं। ससारका प्रेम रोम तकमें भी नहीं रहे और वीतराग चारित्रकी भावना निरन्तर भाता है।

ऐसा धर्मात्मा अपनी कमजोरीसे गृहस्थ दशामें होता है। उस दशा होने पर भी धर्मात्माको एक भवावतारी होनेका असदिग्ध (नि शक) विश्वास होता है। यह केवल कथन मात्र नहीं है। अपूर्व दशा, अपूर्व विचार और सच्चे आत्मधर्मकी रुचि किसको होती है ? स्थिर शान्त चित्तसे कौन विचार करें ? ससारी जीव ससारकी उपाधिमें सुख मानता है। मान, प्रतिष्ठा, घर, कुटुम्ब और देहादिके व्यवसायकी ममता छोडकर थोड़ी भी निवृत्ति धारण कर इस तत्त्व-का कौन विचार करता है ? ससारी जीवोंमें खोटी प्रवृत्तियोंने जड़ जमा ली है इससे खाने पीने आदि अनेक प्रकारकी शारीरिक कुशलतासे निवृत्ति नहीं मिलती है। भोजनमें भी कितनी गृद्धता

पहले ही आ जाता है। उस सम्बन्धमें चिन्तन हुआ करे उसकी माँ भी उनके अनेक गीत गाकर प्रेम प्रकट करती है, उसकी आवाज भी बैठ जाती है, वह रात दिनके जागरण और थकावटका दुःख भी नहीं गिनती। इस विवाह प्रसंगमें वह तल्लीन रहती है, ऐसा विपरीत पुरुषार्थ संसारकी रुचिवाले करते हैं वे अन्य बात नहीं सुनते। न याद करते।

अब उसके दूसरा मोड़ लेनेका अर्थ है संसारकी रुचिको अपने पुरुषार्थ द्वारा हटाता है मैं शुद्ध ज्ञानघन हूँ, पुण्य पाप, रागादि रहित अक्रिय ज्ञानमात्र हूँ ऐसी यथार्थ श्रद्धा और परसे भिन्नतका ज्ञान होनेसे अपने पूर्ण शुद्ध स्वरूपको प्रकट करनेकी भावना उत्कृष्ट रुचि द्वारा आता है बाधक गिरनेकी बात याद नहीं करता और अन्य-को नहीं देखता और बाह्य देहादि निमित्त कारणों तथा कालके कारणों-को नहीं देखता क्योंकि उसकी श्रद्धामें अपूर्व मांगलिक है, उसे पूर्ण स्वरूप प्राप्तिका महान उत्साह रहता है।

देखो तो सही। श्रीमद् गृहस्थावस्थामें थे उनकी २८ वर्षकी युवा अवस्था थी किन्तु फिर भी उनकी अतीन्द्रिय भावनामें पूर्ण आत्मा और साधक स्वभावकी लगन थी। श्रीमद् ५ वर्ष बाद ही समाधिमरण धारण करनेवाले थे। ऐसी अपूर्व जागृति कैसी होगी। 'एक भवमें मोक्षस्वरूप प्रकट होगा' ऐसी भावना इसप्रकारका विश्वास और दृढ़तर उत्कृष्ट रुचि कैसी होगी। ऐसा विचार, मनन चिंतन आत्मामें करने योग्य है। यथार्थ श्रद्धा होनेके बाद उसकी रुचि और प्राप्तिके लिये पुरुषार्थ बढ़ता जाता है। इसप्रकारकी अगाध चारित्र दशा (निर्ग्रंथ मुनिदशा) भी वर्तमानमें न हो सके यह भिन्न

बात है किन्तु उसकी भावना तो अधिकाधिक की जा सकती है। सम्यग्दृष्टिके अभिप्रायमें परमाणुमात्रकी इच्छा नहीं है, उसके देहादि समस्त परद्रव्योंमें निर्ममत्व भाव रहता है। उसके हेय उपादेय-का यथार्थ विवेक रहता है। 'मैं पूर्ण शुद्ध सिद्धके समान हूँ इसलिए वैसा ही बनूँ' यही एकत्वका सम्यग्दृष्टिको आदर रहता है, और उसकी भावना रहती है। वह पुरुषार्थके अपूर्व अवसरकी भावना तो वर्तमानमें कर ही सकता है।

इस कालमें भी सर्वज्ञ भगवान तीर्थंकर प्रभुने एकावतारी जीव बताए हैं। स्वरूपकी यथार्थ श्रद्धा, स्वरूपके लक्ष्यमें जिन आज्ञा-का विचार, वीतराग स्वरूपका चिंतवन, स्वरूप स्थिरताकी उत्कृष्ट रुचिका ही रात दिन मनन-अभ्यास, उत्साह, जागृति इस कालमें भी हो सकते हैं। ससारका प्रेम रोम तकमें भी नहीं रहे और वीतराग चारित्रकी भावना निरन्तर भाता है।

ऐसा धर्मात्मा अपनी कमजोरीसे गृहस्थ दशामें होता है। उस दशा होने पर भी धर्मात्माको एक भवावतारी होनेका असंदिग्ध (निःशङ्क) विश्वास होता है। यह केवल कथन मात्र नहीं है। अपूर्व दशा, अपूर्व विचार और सच्चे आत्मधर्मकी रुचि किसको होती है? स्थिर शान्त चित्तसे कौन विचार करें? ससारी जीव ससारकी उपाधिमें सुख मानता है। मान, प्रतिष्ठा, घर, कुटुम्ब और देहादिके व्यवसायकी ममता छोड़कर थोड़ी भी निवृत्ति धारण कर इस तत्त्व-का कौन विचार करता है? ससारी जीवोंमें खोटी प्रवृत्तियोंने जड़ जमा ली है इससे खाने पीने आदि अनेक प्रकारकी शारीरिक कुशलतासे निवृत्ति नहीं मिलती है। भोजनमें भी कितनी गृद्धता

रहती है। रोजाना दो तीन साग आदिसे विभिन्न प्रकारकी स्वादकी इच्छाओंके पोषण करनेका बहुत जोर है, स्त्रीको भी रसोईके कार्य-से छुटकारा नहीं मिलता। ऐसे अनेक विषयासक्त परिणामों और व्यवसायोंमें आत्माकी चर्चा किसे सुहावे ?

समस्त संसार दुःखसे त्रस्त है। उपाधि कितने व्यापक रूपमें है ! उसमें कितनी अशान्ति व्याप्त है। इतना होते हुए भी देहादिकी ममताके आगे संसारी जीवको उस अशान्ति और दुःखका भान नहीं होता है। वह दिन रात सच्ची मिठाई तथा मान, द्रव्य, प्रतिष्ठा, अपना बड़प्पन आदिका ही विचार किया करता है। विषय-कषाय और देहादिकी आसक्ति कम किए बिना आत्माकी रुचि, सच्ची प्रतीति कैसे हो ? जिसे सत्पुरुषके आश्रय चलना हो उसे संसारसे सुख बुद्धिकी ममता छोड़नी होगी। मुमुक्षुके लक्षण धारण करके स्वरूप-की प्राप्तिके लिए सत्समागम और तत्त्वज्ञानका अभ्यास कर और उसमें दृढ़ होकर उनके पीछे तीव्र जिज्ञासा और आत्महितका मनन किए बिना सच्चे मार्ग का आंशिक भान भी नहीं होता। भव भ्रमण-का भय कैसे मिटे ? जो रात दिवस अपने संसारके अन्त करनेका विचार करता रहता है उसके संसारका मय कैसे रहे ? वे मुनि धन्य हैं। वह वीतरागी दशा धन्य है अपूर्व अवसरकी स्थिरता-रमणता वह कब आयेगी ? उनकी ऐसी तैयारी करनेकी यह भावना है।

'रुचि अनुसार कार्य' अर्थात् जहाँ जिसकी जैसी रुचि हो वहाँ वैसा पुरुषार्थ हुए बिना रहता नहीं है। अपनेको जिसकी आवश्यकता है उसका निष्पक्षभावसे निश्चित करना चाहिए। उसमें विरोधी कारण क्या हैं ? उनका ज्ञान पहले होना चाहिए।

जिसे सच्चे हित अर्थात् मोक्षपदकी रुचि है उसे ससारके किसी भी पदार्थकी रुचि नहीं होती है। यह मेरा शरीर स्थिर रहे, बाह्यकी अनुकूलता मिले तो ठीक रहे आदि इच्छाएँ करनेका मुमुक्षु जीवको अवकाश ही नहीं मिलता, ऐसा अभिप्राय और ऐसी वास्तविक भावना सर्वप्रथम होनी चाहिये।

आत्माको परसे भिन्न मानते हैं क्या ? यदि हाँ तो उसका लक्षण क्या है ? मैं आत्मा हूँ तो कैसा हूँ ? कितना बड़ा हूँ ? और मेरा कार्य क्या है ? यह सब पहले निश्चित करना चाहिए क्योंकि अनन्तकालसे समझमें, माननेमें भूल चली आती है। अपने स्वभावकी खतौनीमें भारी भूल है, जिसमें सारी भूलें समा जाती हैं। मन, वचन और काय आदि जडकी कोई क्रिया चेतनके हाथ नहीं है क्योंकि अरूपी आत्मारूपी जडकी क्रिया करे या परकी व्यवस्था करे यह सर्वथा असम्भव है।

पुण्य परिणाम, शुभ अशुभभाव मलिन दोनों मोह जन्य हैं औदयिक भाव है जो बन्धके कारण है। शुभराग पराश्रितभाव होनेसे, शुभ परिणामसे अविकारी आत्माको गुण मानना भूल है। पुण्य परिणामोंको करने योग्य या इष्ट मानना और उनको आत्माके हितमें कारण मानना भूलरूप मान्यता है। ऐसे विपरीत पुरुषार्थसे अबन्ध और शुद्ध आत्माका अश भी कैसे जाग्रत हो ? बन्ध और कर्म भावसे अबन्ध-निष्कर्म अवस्था नहीं ही प्रकट हो। इसलिए प्रथम स्वपरकी भिन्नता विरुद्ध भावकी विपरीतता स्वभावकी सामर्थ्यता विरोध रहित जानना। आत्माकी यथार्थ श्रद्धा बिना सभी साधन बन्धन-

स्वरूप हो जाते हैं। जड़कर्मों या संसारकी व्यवस्था आत्मा करता है ऐसा मानना चक्रवर्ती राजाके सरपर मलका बोझ डालने जैसा अनुचित कार्य है। आत्माका अबन्ध स्वभाव है,जिसे जीव अज्ञानभावसे बन्धवाला मानता है। जड़का बन्ध स्वभाव है उसका आत्मामें उपचार कर 'मैं पुण्य करूँ तो ठीक, इससे आत्माका साधन होगा, गुण होगा," यह जो मानता है उसने स्वगुणका घात किया है। आत्माका भान होनेके बाद मैं अबन्ध हूँ, असंग हूँ' ऐसे लक्ष्य सहित स्थिर ज्ञातापनामें सावधान रहनेका पुरुषार्थ भूमिकानुसार होता है उसमें तीव्र कषाय दूर होकर मंद कषाय, शुभयोग, पुण्य परिणाम हुए बिना रहेंगे नहीं किन्तु धर्मात्मा उसमें हित नहीं मानता क्योंकि अपने सच्चे अभिप्राय तथा पुरुषार्थ अपने पूर्ण शुद्धत्वकी ओर है उसका पूर्णपद ही लक्ष्य है। नीचे शुभाशुभ भाव होवे हैं उस समय वह उसको विवेक सहित जानता है। जो पराबलम्बी भाव होता है वह औदयिक भाव है उसको करने योग्य और ठीक कैसे माने ? चैतन्य भगवान देहादिकी क्रियाका कर्ता नहीं है। 'मैं परसे भिन्न केवल शुद्ध चैतन्य मात्र हूँ'ऐसी श्रद्धा और इस भावनावालेको अल्पकालमें चारित्र दशा आए बिना नहीं रहेगी। उसके भावी भवका अभाव ही है।

श्रीमद्को सातवें वर्षमें जातिस्मरण ज्ञान हुआ था उनकी स्मरण शक्ति इतनी तीव्र थी कि कोई भी पुस्तक एक बार पढ़नेके बाद दुबारा पढ़नेकी आवश्यकता नहीं थी ऐसी उनके ज्ञानशक्ति प्रगट हुई थी। वे श्वेताम्बर सम्प्रदाय के ४५ आगम सूत्र बहुत थोड़े समयमें पढ़ गये थे और उन्हें दिगम्बर सत् शास्त्रोंका अच्छा अभ्यास था। जैन शासनका रहस्य उनके हृदयमें भरा हुआ था। ऐसी

विशाल और तीक्ष्ण बुद्धिवाले श्रीमद् थे। किन्तु वाह्यमें समाज स्थिति देखकर स्पष्टरूपमें लिखनेका अवसर न आया वे लोक सम्पर्क से दूर रहना चाहते थे—और निरन्तर स्वरूपकी सावधानीका विचार, शास्त्र स्वाध्याय और गम्भीर मनन करते थे और भावना करते थे कि कब निवृत्ति लेऊँ।

धर्मात्मा अपनी अन्तरंगकी स्थिरता वढे विना हठपूर्वक त्याग कर भागते नहीं, क्योंकि हठसे कुछ नहीं होता। स्वसन्मुखताका पुरुषार्थ वढनेपर मुनि पदकी भावना और मुनित्त्व आता ही आता है।

धर्मात्मा गृहस्थको अस्थिरताके कारण शुभ और अशुभवृत्ति होती है किन्तु उसका आदर नहीं है। उनकी दृष्टिमें संसारका अभाव रहता है और वैराग्य बढाता हुआ मोक्षकी भावना भाता है।

जहाँ जिसकी रुचि हो वहाँ उसकी प्राप्तिका पुरुषार्थ हुए विना रहता नही। धर्मात्माको निवृत्तिका ही विचार आता है, स्वप्न में भी उसका ही विचार होता है। ससारकी ममता कमकर कुछ महीने निवृत्ति लेकर सत्समागम करे और वारम्बार शास्त्रका अध्ययन, मनन और विचार करे तो मोक्षकी रुचि वढती है। तत्वकी यथार्थ रुचि होने पर स्थिरताकी प्राप्तिके लिए अनन्त वीर्य प्रकटे ऐसा अपूर्व अवसर (स्वकाल-दशा) कब आवे ऐसी भावना इस गाथामें भाई है।

इस तेरहवीं भूमिकामें आत्माकी पूर्ण शान्त समाधि (असीम सुख दशा) रूप परभावगाढ सम्यक्त्व और यथाख्यात चारित्र प्रकट होता है॥ १५॥

केवलज्ञानीके चार अघातिया कर्म कैसे होते हैं यह सोलहवीं गाथामें बताते हैं—

वेदनीयादि चार कर्म वर्ते जहाँ,
बली सींदरीवत् आकृतिमात्र जो;
ते देहायुष आधीन जेनी स्थिति छे,
आयुष पूर्णे मटिये दैहिक पात्र जो ।

(अपूर्व० ॥ १९ ॥

तेरहवीं भूमिकामें अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख और अनन्तवीर्य प्रकट होता है किन्तु अब भी चार अघातिया कर्म जली हुई जेवड़ी (रस्सी) की तरह विद्यमान रहते हैं किन्तु वे बाधक नहीं हैं और आयु पूर्ण होने तक उनकी स्थिति है। आयु पूरी होने से जीवकी देहमें रहनेकी स्थिति पूरी होती है और मुक्ति प्राप्त करता है, फिर जन्म नहीं होता।

जब तक आत्माका यथार्थ भान नहीं हो तब तक परवस्तु, देहादि, पुण्यादिमें कर्तृत्व, ममत्व और सुख बुद्धि दूर नहीं होती। वह यदि कभी अज्ञानपूर्वक शुभ परिणाम करे तो पापानुबन्धी पुण्य बांधे और परम्परासे नरक निगोदमें जायगा। आत्माके भान एवं श्रद्धा बिना भव (संसार) कम नहीं होता।

सच्चे हितकी समझ बिना इस जीवको अनन्त कालसे इस संसारमें परिभ्रमण करना पड़ा है। इसने कभी भी अपूर्व ज्ञान द्वारा आत्माको परसे भिन्न नहीं समझा जिससे आत्मा कर्म बन्धनमें रहा और शरीर सम्बन्ध नहीं छूटा। एक शरीरसे छूटकर अन्य शरीर के लिए जाते समय भी तैजस और कार्माण शरीर आत्माके साथ ही रहते हैं। सम्यग्दर्शनके बिना बाहरसे भी बहुत प्रतिकूल

संयोग दिखते हैं—क्योंकि निर्दोष ज्ञाताशक्तिको भूलकर पराश्रय-से लाभ मानता है, पर सत्ताको स्वीकार कर यह जीव बन्धभावमें लगा हुआ है, इसलिए परवस्तुमें सुखबुद्धि और इष्ट अनिष्टकी कल्पना कर वह रागी द्वेषी होता है। वह आत्माको भूलकर पुण्यादि परउपाधिमें सुख मानता है।

जैसी मान्यता हो वैसी ही रुचि हो और रुचि अनुसार आचरण हुए विना रहे नहीं। अपनेमें ही अनन्त आनन्द भरा हुआ है इसका उसे विश्वास नहीं होता, इससे उस आनन्दसे विपरीत अवस्था दुःख और अशांति ही है। आत्मा स्वयं स्वतत्र आनन्द स्वरूप है, यदि उसकी प्रकट दशा न हो तो दुःखरूप अवस्था ही प्रकट होगी। जीवने अपनेको भूलकर परसे ममत्त्व किया इससे उसने अपने आनन्द-को क्रोध, मान, माया, लोभ द्वारा विगाड़ा अर्थात् स्वाधीन स्वरूप (ज्ञाता स्वभाव)का ही उसने विरोध किया।

स्वभावके अनन्त सुखको छोड़कर पुण्य-पाप, मान-अपमानके वश होकर जो यह मानता है कि 'मैं सुन्दर हूँ, अन्यको मैं ऐसा रखूँ तो रहे, मैं अन्यको सुखी दुखी कर सकता हूँ, जिलाऊँ, मारूँ या ऐसी व्यवस्था रखूँ' वह अपने चैतन्यके शाति स्वरूपको भूलता है। जो परकी व्यवस्थाको मैं रखूँ ऐसा मानता है वह महा उपाधिरूप अशातिको पाता है।

लोग एक दूसरेकी कुशलक्षेम पूछते हैं तब उत्तरमें यह कहा जाता है कि आनन्द है 'मुझे दुःख नहीं है।' किन्तु थोड़ा गभीरता पूर्वक विचार कौन करे कि महा मोहने आत्माके आनन्दको लूट लिया है? क्रोध, मान, माया और लोभसे प्रतिक्षण स्व की

हिंसा और अशांति हो रही है उसे कौन देखता है ? जैसे कोई मूढ़ शराब पीकर मल-मूत्रमें पड़ा २ भी आनन्द मानता है उसी प्रकार आत्मज्ञानसे रहित मूढ़ जीव परवस्तुमें आनन्द मानता है।

अज्ञानी कहता है कि हमने आत्माको शरीरसे भिन्न मान लिया है और धर्म क्रिया कर रहे हैं तो वह मिथ्या है। जिसे अपनी रुचि और वर्तमान परिणामोंकी खबर नहीं है वह धर्मके नाम पर शुभ भाव करे तो पापानुबन्धी पुण्य बांधे और साथ ही साथ मिथ्यात्वका (मिथ्या अभिप्रायका) अनन्त पाप बांधे।

अपने अनंत आनन्द स्वभावको भूलकर, अनन्त आनन्दसे सर्वथा विपरीत अवस्था-दुःख, अशांति, क्रोध, मान माया और लोभ में जीव लगे तो वह प्रतिसमय आत्माकी भाव हिंसा करता है। जो महा अशांतिमें सुखकी कल्पना करता है। यह अपनी ही अनंती हिंसा है। जो स्वयं ही अपनेको भूलकर धर्मको पराश्रित मानता है उसको दूसरा कौन समझा सकता है ? स्वयं ही धैर्यपूर्वक अपने परिणामोंको पहचान ले, आत्म अवलोकनके द्वारा अनादिसे चली आई भूलको दूर करे तो धर्म हो।

श्रीमद् रायचन्द्रने युवावस्थामें अपूर्व वैराग्य, उपशम भाव सहित मोक्ष पदकी प्राप्तिके लिए यथार्थ वीतराग स्वरूपकी भावना कर बुद्धिका सदुपयोग किया था।

वर्तमानमें साधारण बुद्धिवाला जीव'यह युग स्वतंत्रताका युग है बुद्धिवादका है,हमारी यह मान्यता है जो हमने विचारा वह पूरा कर सकते हैं इत्यादि बहुत प्रकारके स्वच्छंदता पूर्ण विचारोंसे परमें कर्तृत्व ममत्वमें अपना पुरुषार्थ मानते हैं। अंग्रेजी पढ़कर कई तो बहुत अभिमान

रखते है और अपने पूज्यजनोंको मूर्ख गिनते हैं और वे कहते हैं कि बूढे लोग धर्मका ढोंग लेकर बैठे है। धर्मकी अरुचि और पुण्यकी अनुकूलता हो तो अभक्ष भेक्षण रात्रिभोज आदि स्वच्छंदता भी खूब फलीभूत होती है तब वह 'हम चौडे और गली सकडी' वाली कहावत चरितार्थ करता है। जबकि ज्ञानी जीव भावना करता है कि मैं पूर्ण, शुद्ध असग हूँ। उसे अपनी पूर्ण पवित्रता प्रकट करनेकी रुचिमें ससारकी रुचि करनेका अवकाश नहीं है। ज्ञानी स्वरूपकी भावना करता है कि मैं नित्य अतीन्द्रिय ज्ञानमय हूँ परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है और वह क्रमश स्वरूप स्थिर होता हुआ ससारमे निर्ममत्वी होता है।

अज्ञानी जीव ससारमें देहादि विषयोंमें एकत्त्व बुद्धि करता है कि यह मैंने किया, मैं यह कर सकता हूँ, मैंने दूसरोंको सुखी किया और मेरेसे ही यह सब कुछ होता है इन मिथ्या विकल्पोंसे वह आत्माको अपराधी, उपाधिवाला, जड, पराधीन और पुद्गलका भिखारी बनाता हुआ स्वय विशेष दु:खी बनता है। उसको रात्रिमें भी स्त्री, धन, व्यापार आदिके ही स्वप्न आते हैं।

ज्ञानी, धर्मात्मा श्रीमद्‌ने २९ वे वर्षमें अपूर्व अवसरकी यह भावना की कि देहादिकी उपाधि चिन्ता उत्पन्न न हो और आत्माका पूर्ण, असग, शुद्ध स्वरूप प्रकट कर अशरीरी बनूँ, परम तत्त्वकी दृढ रुचि होनेपर स्वप्ने भी उस सम्बन्धी ही आते हैं। ऐसी रुचिवाला रात दिन आत्माको ही देखता है, जानता है और विचारता है कि मैं अशरीरी हो जाऊँ, महान सन्त मुनिवरोंके सत्सगमें बैठा हूँ, मैं मुनि हुआ, मुमुक्षुओंका समुदाय एकत्रित है, नग्न निर्ग्रंथ मुनियोंके सब दिखाई पडते हैं मैं मुनि होकर मोक्षदशामें पहुच गया, आदि इसी-प्रकारके स्वप्ने भी ज्ञानी देखा करता है।

जिसे संसारकी रुचि है उसके इसप्रकारके विचार व लगन रहती ही है। पुण्य-पाप देहादिके कार्योंको अपने आश्रित मानना अज्ञानमय कल्पित भाव है, बन्धभाव है, आत्मा निराकुल चैतन्य आनन्द मूर्ति है। 'चेतनरूप अनूप अमूरत सिद्ध समान सदा पद मेरो' ऐसा मेरा सिद्ध पद शीघ्र प्रकट हो, अन्तरंगमें ऐसी भावनाका दृढ़ अभ्यास करनेसे चारित्र गुण विकसित होकर वीतरागता प्रकट होती है।

संसारी मोही जीव बाह्य उपाधिसे तथा धर्मके नामपर पापानुबन्धी पुण्यभाव द्वारा अपना विकास चाहता है; जब कि ज्ञानी यह मानता है कि मैं आनन्दस्वरूपकी स्थिरतामें विकसित होऊँ एक परमाणुमात्र भी उपाधि नहीं रहने देऊँ। वह ऐसे अबन्ध भावमें वीतराग दृष्टि द्वारा स्वरूपकी सावधानी बढ़ाता है और अपूर्व स्थिरता (ज्ञानकी एकाग्रता)की साधना करता है। इस पवित्रताकी रमणतामें देहादि परमाणुमात्रका सम्बन्ध दूर हो जावे ऐसा अपूर्व अवसर कब आवेगा? ऐसी भावना इस गाथामें की गई है। इसप्रकारकी आंतरिक अवस्था प्राप्त हुए बिना कोई भी मोक्ष स्वभावको प्राप्त नहीं करता।

[गा० १ १२-२१]

शुद्ध आत्मस्वरूप कैसे प्रकट हो यह भावना इस गाथामें व्यक्त की गई है। जिसमें जिसकी रुचि है वह उससे कम नहीं माँगता, स्वीकार नहीं करता। जिसे संसारके धन, इज्जत आदिकी रुचि है वह यथापि तृष्णा द्वारा खूब परिग्रहकी इच्छा करता है और वह जल्दी प्राप्त हो ऐसी भावना करता है। ज्ञानीके उससे विपरीत किन्तु सबल पुरुषार्थ होता है। यह संसार एकांत दुःख एवं अज्ञानजनित

अशान्तिसे दग्ध हो रहा है किन्तु मेरा आत्मस्वरूप उससे भिन्न बेहद शान्ति-आनन्दमय ज्ञानघन है ऐसा ज्ञान होनेपर शुद्ध तत्त्वस्वरूपकी भावना होती है और क्रमश पूर्णकी रुचि बढती जाती है।

ऐसी सिद्ध दशाकी भावना होती है।

धर्मात्माको अपने पूर्ण शुद्ध आत्मपद जैसा है उसकी ही यथार्थ श्रद्धा और सुविचारदशा पूर्वक सहज आत्मस्वरूपकी रटन लगी रहती है, ज्ञानी पूर्णताके लक्ष्यमें पूर्ण होनेकी भावना करता है ॥ १६ ॥

अब चौदहवीं 'अयोगी जिन' भूमिकाका कथन किया जाता है—

मन, वचन काया ने कर्मनी वर्गणा,
छूटे जहाँ सकल पुद्गल संबंध जो;
ऐवुं अयोगी गुणस्थानक त्यां वर्ततुं,
महाभाग्य सुखदायक पूर्ण अबंध जो ॥अ० ॥१७॥

ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि आठ कर्म इन पुद्गल रजकणोंके सयोगी सम्बन्धवाले हैं और अनादि कालसे प्रवाहरूपमें चले आरहे हैं, पुराने कर्म दूर हों और नए कर्म बँधें ऐसा अनादिकालीन प्रवाह १४ वें गुणस्थानमें रुकता है।

आत्मा अबन्ध है, मोक्षस्वभाववाला है, उसे भूलकर इस जीवने बन्धभावमें अटक कर अनन्त दुःख पाए हैं किन्तु जबसे सब पक्षोंसे विरोध दूर कर सम्यग्दर्शन प्रकट करे तबसे पूर्णताके लक्ष्यमें स्थिरताका पुरुषार्थ बढ़ते बढते जीवके जब केवलज्ञान प्रकट होता है

तब वह तेरहवाँ गुणस्थान-'सयोगी केवलीत्व' प्राप्त करता है। चौदहवें गुणस्थानमें शेष चार अघातियों कर्मोंके छूटनेका काल पाँच ह्रस्व स्वर (अ, इ, उ, ऋ, लृ) के बोलने जितने समयका है उतना चौदहवें अयोगी गुणस्थानका समय है। उससमय आत्म प्रदेशोंका कंपन नहीं है तथा किसी भी कर्म परमाणुका आश्रव नहीं है। उक्त पाँच ह्रस्व स्वरोंके कहनेमें जितना समय लगे उतने समयमें आयु, नाम,गोत्र और वेदनीय कर्मोंकी स्थिति पूरी होकर आत्मा अविनाशी, मुक्त सिद्धदशा प्राप्त करता है। तेरहवें गुणस्थानमें साक्षात् सर्वज्ञ प्रभु पूर्ण वीतराग होते हुए भी उनके योगका कम्पन होनेसे एक-समय मात्रका कर्मोका आश्रव होता है जिसकी उसी समय निर्जरा हो जाती है। तेरहवें गुणस्थानमें जब देहके रजकण अति उज्ज्वल स्फटिक जैसे स्वच्छ हो जाते हैं और-पृथ्वीसे पाँच हजार धनुष ऊँचा सहजरूपसे उस देहका विचरण होता है।

यदि तेरहवें गुणस्थानवालेके तीर्थंकर नामक नाम कर्मकी उत्कृष्ट पुण्य प्रकृतिका योग हो तो इंद्रों द्वारा समवसरणकी अलौकिक, आश्चर्यकारक रचना होती है वहां गंधकुटि रत्नजडित सिंहासन, अशोकवृक्ष, मानस्तम्भ, आदि अनेक प्रकारकी अति सुन्दर रचना होती है। सौइन्द्र भगवानकी भक्ति करते हैं। भव्य जीवोंके अति उपकारी निमित्त स्वरूप उनके दिव्य ध्वनि ॐ रूप प्रकटती है। ऐसे साक्षात् प्रभु वर्तमानमें पंच महाविदेहमें विराजमान हैं। उनके देहकी स्थिति पूरी होने पर, अयोगी, अबन्ध अवस्था पूर्ण कर सिद्ध शिला ऊपर शाश्वत आनन्दमें विराजते हैं।—

"सर्व जीव छे सिद्ध सम, जे समजे ते थाय।"

प्रत्येक आत्मामें अनुपम, अतीन्द्रिय बेहद सुख शक्तिरूपमें है, द्रव्य स्वभाव ही सुखरूप है, स्वाधीन है। यदि वह शक्ति न हो तो कभी प्रकट नहीं हो सकती। आत्मशक्ति पूर्ण है ही उसही प्रकारके श्रद्धा, ज्ञान, और चारित्र द्वारा ही वह प्रगट हो सकती है। अन्य उपायसे मोक्ष नहीं हो सकता। इससे यह निश्चित हुआ कि पुण्यसे नहीं, मनके शुभ-परिणामसे नहीं, शरीरसे नहीं किन्तु आत्मामें ज्ञान प्रकट करने और ज्ञानरूपमे स्थिर होनेसे मोक्षमार्ग और मोक्षदशा होती है ऐसा आया।

श्रीमद् रायचन्द्रजी इसप्रकारकी भावना आतरिक स्थिरता पूर्वक करते थे, वह भावना एक भव बाद पूर्णता प्राप्त करने की थी, इसका उन्हें पूर्ण विश्वास था। 'अपूर्व अवसर' में श्रीमद्ने साधक स्वभावका यथार्थ वर्णन किया है, क्रमसर उसके श्रेणी विकासका कथन किया है। दर्शनमोहके क्षय होनेके बाद साधकदशामें आगे बढते हुए क्षपक श्रेणी द्वारा आठवा गुणस्थानसे चारित्र मोह कर्मके उदयका क्षय होता जाताहै। बारहवाँ गुणस्थान क्षीणमोह है। चारघातिया कर्मोंके क्षय होनेपर सर्वज्ञ पद-तेरहवा गुणस्थान प्रकट होता है और तत्पश्चात् चौदहवा 'अयोगी' गुणस्थान प्रकट होता है। ऐसी महा-भाग्यवान पूर्ण सुखदायिका अबन्ध दशा प्रकट हो, ऐसा स्वकालरूप अपूर्व अवसर कब आवे, ऐसी भावना इस गाथामें की गई है ॥१७॥

अब सिद्ध पद प्राप्त होने पर आत्माकी कैसी अवस्था होती है, बताते हैं—

एक परमाणु मात्रनी मले न स्पर्शता,
पूर्ण कलंक रहित अडोल स्वरूप जो;

शुद्ध निरंजन चैतन्यमूर्ति अनन्यमय,
अगुरुलघु अमूर्त सहज पद रूप जो। अपूर्व० ॥१८॥

जैसे आँखोंमें एक अन्य रजकण भी अच्छा नहीं लगे उसी प्रकार भगवान आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञानघनस्वरूप अघन है, उसमें किसी अन्य परमाणु मात्रका भी स्पर्श नहीं है। इस स्वरूपको भूलकर आत्माको पुण्यवाला, राग द्वेषादि चिकनाईवाला स्पर्शवाला या बन्धन वाला मानना मिथ्यादर्शन शल्य है। आत्मा स्वभावसे सिद्ध भगवान तुल्य है इससे वह अविनाशी, शुद्ध चैतन्यमात्र, ज्ञाता-दृष्टा, पूर्ण शान्ति, समता और आनन्दस्वरूप शक्तिरूप है; वह शक्तिरूपसे व्यक्त असीम, स्वाभाविक पूर्णरूप निर्मलदशा प्रगट होनेसे एक परमाणु मात्र भी संयोग सम्बन्ध नहीं रहता ऐसा वस्तुका सहज स्वभाव है। ऐसे अबन्ध स्वभावकी यथार्थ प्रतीति जिस आत्मामें है वह एक रजकण मात्रका भी बन्ध स्वीकृत नहीं करता, यह सम्यग्दर्शनका स्वरूप है ऐसे निःशंक अभिप्रायको स्थिर रखनेकी सामर्थ्य चौथे गुणस्थानसे प्रारम्भ होती है।

मैं सिद्ध समान शुद्ध, अबन्ध हूँ, शुभ या अशुभ कर्मके किसी भी रजकणका मेरे सम्बन्ध नहीं है। इस दृष्टिसे पूर्ण होनेके लक्ष्यमें स्वरूपका उत्साह बढ़ता है और इस-दृष्टिका चिन्तन अभ्यास बढ़नेसे सम्यक्त्व सहित अप्रतिहत भावसे चारित्रकी रमणतामें स्थिर उपयोगमें एकाग्रता बढ़नेसे क्रमशः परमावगाढ़ सम्यक्त्व और यथाख्यात चारित्र प्रकट होता है तब निश्चल, पूर्ण पवित्र वीतरागदशा रूप शुद्धस्वभाव प्रगट होता है।

भगवान आनन्दघन चैतन्य प्रभुमें एक परमाणु मात्रका भी स्पर्श नहीं है, उसमें उपाधिका अंश भी नहीं है ऐसा उसका मूल स्वरूप है इसलिए उस प्रकारकी श्रद्धा, ज्ञान और स्थिरता द्वारा अपना पद प्रकट होता है ऐसा अपूर्व अवसर कब आवे उसकी यहाँ भावना की गई है।

धर्मात्मा निश्चयनयसे अपनेको अबन्ध, शुद्ध मानता है और साथ ही उस प्रकारकी निःशंक श्रद्धा स्थिर रखनेका पुरुषार्थ बढाता रहता है। उसे अशरीरी बननेके लिए मात्र मोक्षकी ही उसे अभिलाषा है। इसलिए उसे संसारके किसी पदार्थ या पुण्यादिकी इच्छा भी नहीं है। उपाधि द्वारा अपने स्वरूप पहचाननेको धर्मात्मा शरम मानता है और अज्ञानी जीव अपने 'अहं' को बढाते हुए इसप्रकार उल्टी मान्यता करता है कि मैं सुन्दर हूँ, पुण्यवान, धनी, कुटुम्बी इज्जतदार हूँ।

आत्मा अतीन्द्रिय, निराकुल, शान्त, समतास्वरूप, परसे भिन्न है, उसे भूलकर उपाधिमें सुखकी कल्पना करना और अपनी जातिसे भिन्न जड़ कर्मकी विकारी अवस्थासे आत्माको पहचानना महाकलंक है। पुण्यभाव भी पवित्र चैतन्यमूर्ति ऊपर अपवित्र मोटी फुन्सीके समान है, चैतन्य निरोगी तत्त्व है उसे कर्मकी उपाधियुक्त जाननेका धर्मात्माको खेद है। वह निरन्तर यही भावना करता है कि मैं अशरीरी, मुक्तदशावाला कैसे बन जाऊँ। देहात्म बुद्धिवाले जीवको परवस्तुमें सुख बुद्धि रहती है, वह देहादिकी ममता और उसकी अनुकूलता के परिपोषणमें ही अपना जीवन मानता है और अपनी समस्त शक्तिका दुरुपयोग करता है।

जबकि धर्मात्मा मुनि जंगलमें एकाकी, देहकी ममता रहित होकर विचरण करते हैं। उस अवस्थामें कभी सिंह उनके शरीरको फाड़ डाले चाहे शरीर भिन्न-भिन्न हो जाओ या इस शरीरका चाहे जो कुछ होओ उससे ज्ञान और समाधिमें कोई बाधा नहीं है ऐसा वे मानते हैं ऐसे अवसर पर जिन्होंने आत्माकी अनन्त शक्ति प्रकट कर पूर्णता प्राप्त की या करेंगे वे धन्य हैं, ऐसा होनेपर ही मनुष्य शरीर धारण करनेकी सार्थकता है। इस प्रकार धर्मात्मा शरीरकी ममता छोड़ कर मुक्त होनेकी भावनाको बलवती-दृढ़ करता है। उसे एक क्षण भी संसारमें रहने या शरीरको रखनेकी रुचि नहीं है। वह अपने स्वरूप के लक्ष्यमें जिनाज्ञा चिन्तन और रुचि बढ़ाते हुए और अबन्ध भाव स्थिर रखते हुये प्रतिक्षण अनंत कर्मोंकी निर्जरा करता है और मोक्ष मार्गकी साधना करता है। वह मोक्षकी ओर अग्रसर होता जाता है जबकि अज्ञानी जीव बन्धभाव करता हुआ संसारकी चार गतियोंमें भ्रमण करनेकी ओर बढ़ता है।

किसीको शंका हो कि निगोद, नरक, देवलोक आदि नहीं है उन नर्कके एवं परलोक आदिकी स्थिति अनेक न्याय दृष्टान्त, युक्ति और प्रमाणसे सिद्ध हो सकती है।

'आत्मा नित्य है' इस सिद्धान्तको भूलकर यह जीव अपनेको शरीरादिकी योग्यता वाला, रागादि युक्त, पुण्यवाला, बन्धवाला मानता रहा है किंतु उसने अपनेको स्वाधीन निर्दोष, ज्ञाता, दृष्टा, परसे भिन्न नहीं माना इसलिए वह परवस्तुसे प्रेम करता है, वह पुण्य आदि द्वारा अपनेको पहचाननेमें हर्ष मानता है। देह, पुण्यादि तो चेतनके सिर पर कलंक स्वरूप हैं कलंकको शोभा स्वरूप माननेसे

उसका छुटकारा कैसे हो ? इसलिए सर्वप्रथम तत्त्व समझनेका प्रयत्न करना जरूरी है। आत्मा त्रिकाल शुद्ध,अवध स्वभाववाला है,उसे पर-निमित्तसे वन्धवाला अपूर्ण,हीन या विकारी मानना सबसे भारी पाप-(मिथ्यादर्शन) है, स्वरूपकी हिंसा है और अनन्त भव भ्रमणका मूल कारण है। प्रत्येक पदार्थ सत् है, 'है'वह त्रिकाल होता है, स्वतत्र होता है, कोई भी वस्तु स्वभावमें विकार स्वरूप नहीं है। जैसे सोनामें ताबा हो उससे सोनेका स्वरूप मलिन नहीं होता उसीप्रकार आत्माका स्वभाव शुद्ध है,अवन्ध है, उसे भूलकर जीवने परके निमित्तको स्वीकार किया है और माना है कि मैं वधवाला हूँ, रागवाला हूँ किन्तु यदि ऐसा हो तो जीव कभी बन्धनसे छूट नहीं सकता, क्रोधको दूर कर क्षमा नहीं कर सकता,किन्तु सच्चे पुरुषार्थी क्षमा द्वारा क्रोध हटा सकते हैं।

जो ससारके प्रेमको छोड़कर परमार्थके लिए निवृत्ति नहीं ले उसका जीवन व्यर्थ है। जिसने अपने पूरे जीवनमें आत्मा सवधी विचार और सत्समागम नहीं किया उसे आत्माकी रुचि कैसे हो ?

श्रीमद् रायचन्द्रने छोटी आयुमें ही लिखा था कि मैं कौन हूँ ? ...े हुआ ? मेरा असली स्वरूप क्या है ? जिसने इसप्रकारके विचार ...तरसे जाग्रत किये उसके संसारका अन्त कैसे नहीं हो ? अनन्त ...लकी अशाति की,पराधीनता की जिसे हार्दिक वेदना हो उसे अपने ...त्माकी दया आती है और अपनेमें योग्यता उत्पन्न कर अपनेको ...ुद्ध स्वरूपके सन्मुख करता है।

श्रीमद् जवाहरातका व्यापार करते थे किन्तु फिर भी वे निवृत्ति चाहते थे और अपूर्व भावना करते थे कि मेरा शरीरादिसे

मिलन नहीं है। देहादि संयोग और विकार कोई भी उपाधि मुझे नहीं चाहिये, पूर्ण शुद्धात्माके अतिरिक्त मेरा कुछ भी नहीं है। मेरा पूर्ण सिद्ध पद कब प्रकटे इस उद्देश्यसे इस प्रकारका पुरुषार्थ वे निरंतर करते थे। इस अपूर्व रुचि और पूर्ण पवित्र होनेकी भावना का उत्साह और केवल निज स्वभावमें अखंडरूपसे रहनेकी भावना का यह सुफल है कि वे एक भव बाद मोक्ष दशाको प्रकट कर पूर्ण पवित्र, निराकुल शांति स्वरूपमें अपने अनंत आनन्दको प्राप्त करेंगे।

लोग सुख चाहते हैं किन्तु उसके कारणोंको मिलाते नहीं हैं, वे दुःखको नहीं चाहते किन्तु दुःखके कारणस्वरूप 'मोह'को नहीं छोड़ते। शरीरादिकी ममता छोड़ना नहीं चाहते; वे शरीरमें अपना रूप (शरीर) देख कर खुश होते हैं, वे शरीरको ठीक रखने के लिए अहंभाव करते हुए अनेक विचित्र कल्पना करते हैं और उपाधिमें सुख मानते हैं और इस अपवित्र शरीरको सर्वस्व मानकर पागल होते हैं और आकुलताको सुख मानते हैं। ज्ञानी ऐसे जीवोंको कहते हैं कि हे जीव! तूं देह, रागद्वेष, और पुण्य-पापादिसे भिन्न है एकबार इस बात प्रकृतिके बलसे (सर्व परभावसे) भिन्न हो तो मालूम होगा कि तेरे स्वभावमें उपाधि रंचमात्र भी नहीं है। एक बार मोहभावसे अलग होकर अपने स्वरूपके सन्मुख हो तो तेरा चैतन्य भगवान् ही तेरी रक्षा करेगा अर्थात् तूं स्वरूपमें सावधान रह सकेगा। ऐसी वस्तुस्थिति प्रकट कर दिए जाने पर भी मोही जीवोंको संसारकी उपाधिका प्रेम नहीं छूटता जब कि ज्ञानी धर्मात्मा अपनी असंग अवस्था प्रकट करनेकी भावना करता है कि

"एक परमाणुमात्रनी मले न स्पर्शता, पूर्ण कलक रहित अडोल स्वरूप जो, शुद्ध निरजन चैतन्यमूर्ति अनन्यमय" ऐसा मैं कब होऊंगा ?

जो इस प्रकारकी भावना करते हुए जाग्रत जीवन व्यतीत करते हैं वे मनुष्य भवमें रह कर अपनी स्वाधीन दशा प्रकट कर धर्मरूपी तत्त्व प्राप्त करते हैं और करेंगे। संसारकी रुचि छोडे बिना यह परम तत्त्व कैसे समझा जावे ? जिसे पुण्यादि परवस्तुमें सुख बुद्धि है उसे ससारसे अरुचि और सच्ची समझ कैसे हो ? स्वरूपकी पहिचान हुए बिना विपरीत भाव दूर नहीं होता, इसलिए सर्व प्रथम शरीरादि-की ममता कम कर सत्समागम करना आवश्यक है। अनादि कालसे मोह निद्रा व भूलमें पडा हुआ यह चैतन्य एक बार भी जाग्रत होकर ऐसा विचार करे कि 'मैं सर्व उपाधि रहित हूँ, कर्म कलकसे भिन्न असंग हूँ, रागद्वेष, पुण्य पापादि परमाणु मात्र मेरे स्वभावमें नहीं है'। (पराश्रयकी श्रद्धा छोड़कर) ऐसे स्वभावका ज्ञान कर पूर्ण पवित्रताके अपूर्व स्वभावका अनुभव कर यह जीव यह कहे कि मैं वैसा हीं हो जाऊँ। इस प्रकारका अतीन्द्रिय पुरुषार्थ पूर्णता प्राप्तिके लक्ष्यसे कर, इस प्रकारकी भावनाकी रुचि द्वारा स्वरूपकी स्थिरता कर अनत जीव पूर्ण कलंक रहित, शाश्वत, सहजानद स्वरूप मोक्ष दशाको प्राप्त किए हैं, करते हैं और करेंगे।

अब 'शुद्ध निरजन चैतन्यमूर्ति अनन्यमय' पदकी व्याख्या की जाती है—

'शुद्ध निरजन' अर्थात् मलादिक विकारका अजन न होना। चैतन्यमूर्ति—इस शब्दमें 'चिद्' धातु है उसका अर्थ यह है

कि केवलज्ञानका पिंड । जैसे नमकका डला एक क्षार रसकी लीलाका अवलंबन द्वारा क्षार रससे ही पूर्णरूपसे भरा हुआ है उस ही प्रकार जो एक ज्ञान स्वरूपका अवलम्बन करता है वह केवलज्ञान रससे भरपूर भरा हुआ अपनेको अनुभवमें श्रद्धामें लाता है उस स्वभावको खंडित करनेमें कोई समर्थ नहीं है वह अखण्डरूप निजभाव स्वभावसे ही प्रकट होता है उसे किसीने बनाया नहीं है।

हमेशा जिसका ज्ञानानंद विलास प्रकट है, वह अरूपी पदार्थ चैतन्य है इससे यह जीव सिद्ध परमात्मा प्रगट चैतन्यमूर्ति कहलाता है।

'अनन्यमय'= जिस जैसा अन्य कोई नहीं। सिद्धात्मा शुद्ध, बुद्ध एक स्वभावको धारण करनेवाला है। प्रत्येक आत्मा भी शक्ति रूपसे सिद्ध परमात्मा जैसा है।

"अगुरु लघु अमूर्त सहज पदरूप जो' पदकी व्याख्या इस प्रकार है—

अगुरुलघु नामक एक गुण है जो सब छह द्रव्योंमें है। आत्मा और ज्ञान्गुण अभेद वस्तु हैं। उस ज्ञान गुणमें आत्माके अनंत गुण धर्म समिविष्ट हो जाते हैं।उसकी चेतनरूप अवस्था अनादि और अनंत कालीन है। इस जीव द्रव्यका परिणमन उत्कृष्ट रूपसे हीनरूप हो तो वह निगोदमें जावे वहाँ ज्ञान शक्ति बहुत ढँक जाती है तो भी उसके अपने गुणका एक अंश भी जडरूप नहीं होता और पूर्ण शुद्ध स्वभाव प्रकट होने पर त्रगुणका पूर्ण परिणमन होते हुए भी अपने एकरूप स्वद्रव्यकी मर्यादा उल्लंघ कर अन्य द्रव्यमें या अन्य आत्माके प्रदेशोंमें प्रविष्ट नहीं होता

ऐसा परिणमन अगुरुलघु गुणके कारणसे होता है। कोई गुण या कोई द्रव्य अन्यरूप न हो यह भी अगुरुलघु गुणका कार्य है।

जीव वर्ण–गंध–रस–स्पर्श रहित अमूर्त स्वरूप है।

आत्मा सहज स्वभावमें अनंत आनंद स्वरूप है उसे प्रकट करूँ ऐसी भावना होती है, स्वाभाविक सिद्ध स्वरूप पूर्ण आत्मपद जो अविनाशी सहजानंद शुद्ध स्वरूप है वह स्थिति शीघ्र प्रकट हो यह भावना इस गाथामें की गई है।

आत्मा चौदहवें गुणस्थानसे छूटकर अपने ऊर्ध्वगमन स्वभाव-के कारणसे लोकके अग्रभागमें स्थिर होता है। आत्मा सूक्ष्म और हल्का है इसलिए उसका ऊर्ध्वगमन स्वभाव है। और संपूर्ण शुद्धत्त्व होने पर भी लोकका द्रव्य होनेसे वह एक समयमें लोकाग्र तक पहुँचता है।

यहाँ शंका उठती है कि आत्माका ऊर्ध्वगमन स्वभाव है वह अब तक ऊपर क्यों नहीं गया ? इसका समाधान यह है कि प्रत्येक जीव उच्चता चाहता है, किन्तु अपने अज्ञानके कारण देहादि परवस्तुमें रागद्वेष मोहद्वारा उपाधिरूप कर्म बंधनमें अटका हुआ है। जब तक जीव स्वसन्मुख पूर्णरूपसे स्वरूप स्थिरता नहीं करे तब तक उसका ऊर्ध्वगमन स्वभाव प्रकट नहीं होता। जो मोक्ष स्वभाव पहले शक्ति रूपमें था वह जीवके पूर्ण शुद्ध होने पर प्रकट होता है और उसी समय ऊर्ध्वगमन स्वभाव नामक शक्ति प्रकट होती है। देहादि कर्म बंधनसे छूटनेके बाद आत्मा नीचे नहीं रह सकता। आत्मा अरूपी, सूक्ष्म हल्का है, हल्का पदार्थ ऊपर ही

आवे। मिट्टी लगी हुई तूँबी कूपमें डालने पर नीचे जाती है किन्तु मिट्टी उतर जानेपर वह तूँबी ऊपर आजाती है उसी प्रकार चैतन्य भगवान आत्माके कर्म पुद्गलका परमाणुओंका संबंध था किन्तु उसको ज्ञान ध्यानसे दूर कर दिया तब यह आत्मा पूर्ण कलंक रहित स्वरूपमें लोकके अग्रभागमें अचल विराजमान होता है ॥ १८ ॥

सिद्ध पर्याय प्रकट होते समय आत्माकी कैसी दशा होती है यह बताते हैं—

> पूर्व प्रयोगादि कारणना योगथी,
> ऊर्ध्वगमन सिद्धालय प्राप्त सुस्थित जो;
> सादि अनंत अनंत समाधि सुखमाँ,
> अनंत दर्शन ज्ञान अनंत सहित जो। अपूर्व० ।१९।

अनादिकालीन अज्ञानभावको दूर करने से सम्यग्दर्शन प्रकट होता है। और तभी से पूर्ण शुद्धता (मोक्ष स्वभाव)की अवस्था प्रकट करने के लिए स्वस्वरूपमें रहने का अर्थात् ज्ञानकी स्थिरताका पुरुषार्थ जीव प्रकट करता है। वह गुण श्रेणिरूप अंतरंग ज्ञानमें प्रयत्न वह पूर्व प्रयोग है और उसके द्वारा पूर्ण शुद्ध स्वरूप प्रकट हुआ इससे सहज ही आत्माका ऊर्ध्वगमन हुआ। क्षेत्रनिमित्तकी अपेक्षा जीव सिद्धालय क्षेत्रको पाता है ऐसा कहना व्यवहार है क्योंकि वह आकाश क्षेत्र है। वास्तवमें मुक्त जीव स्वक्षेत्ररूप निश्चल स्वभावमें सादि अनंत स्थिर रहते हैं। जीव एक समयमें लोकके अग्रभागमें पहुँच कर जीव, स्वद्रव्यमें स्थिर रहता है।

शास्त्रोंमें पूर्व प्रयोगादिके चार दृष्टान्त कहे गये हैं—

१ कुम्हारके चाककी तरह पूर्व प्रयोगसे, आत्मा ऊपर जाता है।

२ ऐरंडका बीज सूर्यके तापमें सूख कर चटकता है तब उसकी मींजी आकाशमें ऊँची जाती है उसी प्रकार कर्मावरणका डिब्बा चैतन्यके वीतरागताके तापसे खुला तब आत्मा सहज कोई ही आकाशमें ऊँचा गया और फिर नीचे आनेका किसी भी कर्म निमित्त नहीं रहा।

३ अग्निशिखा—जैसे अग्निकी ज्वाला आकाशकी तरफ ऊँची जाती है उसी प्रकार आत्मज्ञान ज्योति ऊपर जाती है।

४ १८ वीं गाथामें वर्णित तूँबीके दृष्टातकी तरह आत्मा कर्म रहित होकर ऊपर जाता है। यह ध्यान रखना चाहिए कि दृष्टांत एक देशी होते हैं वे सब प्रकारसे लागू नहीं होते।

'सिद्धालय प्राप्त सुस्थित जो'—चैतन्यरूप सिद्धात्माका स्वक्षेत्र असख्यात प्रदेशी है, वह अपने राज्यमें, शिव सुखमें सुशोभित पुरुषाकारमें अरूपी घन चैतन्यमूर्ति अपने स्वरूप-सिद्ध क्षेत्रमें निश्चल निराबाधरूपसे सदा ही स्वतत्ररूपसे स्थिर रहता है। फिर जन्म मरण नहीं है यह त्रिकाली नियम है।

'सिद्धालय प्राप्त सुस्थित जो'-अपने आत्मामें अच्छी तरह स्थित रहना। सिद्ध क्षेत्रमें अनत सिद्ध जीव हैं तब भी एक आत्मद्रव्य अन्य आत्मद्रव्यमें मिलता नहीं है किन्तु सब आत्मा स्वतत्ररूपसे स्वसत्ताको स्थिर रखते हुए नित्य रहते हैं। किस प्रकार? ऐसे जैसा कि कहा है—

जाते। मिट्टी लगी हुई तूँबी कूपमें डालने पर नीचे जाती है किन्तु मिट्टी उतर जानेपर वह तूँबी ऊपर आजाती है उसी प्रकार चैतन्य भगवान आत्माके कर्म पुद्गलरूप परमाणुओंका संबंध था किन्तु उसको ज्ञान ध्यानसे दूर कर दिया तब वह आत्मा पूर्ण कलंक रहित स्वरूपमें लोकके अग्रभागमें अचल विराजमान होता है ॥ १८ ॥

सिद्ध पर्याय प्रकट होवे समय आत्माकी कैसी दशा होती है वह बताते हैं—

> पूर्व प्रयोगादि कारणना योगथी,
> ऊर्ध्वगमन सिद्धालय प्राप्त सुस्थित जो;
> सादि अनंत अनंत समाधि सुखमाँ,
> अनंत दर्शन ज्ञान अनंत सहित जो। अपूर्व० ।१९।

अनादिकालीन अज्ञानभावको दूर करने से सम्यग्दर्शन प्रकट होता है। और तभी से पूर्ण शुद्धता (मोक्ष स्वभाव)की अवस्था प्रकट करने के लिए स्वस्वरूपमें रहने का अर्थात् ज्ञानकी स्थिरताका पुरुषार्थ जीव प्रकट करता है। यह गुण में स्थिररूप अंतरंग ज्ञानमें प्रयत्न वह पूर्व प्रयोग है और उसके द्वारा पूर्ण शुद्ध स्वरूप प्रकट हुआ इससे सहज ही आत्माका ऊर्ध्वगमन हुआ। क्षेत्रनिमित्तकी अपेक्षा जीव सिद्धालय क्षेत्रको पाता है ऐसा कहना व्यवहार है क्योंकि वह आकाश क्षेत्र है। वास्तवमें मुक्त जीव स्वक्षेत्ररूप निश्चल स्वभावमें सादि अनंत स्थिर रहते हैं। जीव एक समयमें लोकके अग्रभागमें पहुँच कर जीव, स्वद्रव्यमें स्थिर रहता है।

शास्त्रोंमें पूर्व प्रयोगादिके चार दृष्टान्त कहे गये हैं—

१ कुम्हारके चाककी तरह पूर्व प्रयोगसे, आत्मा ऊपर जाता है।

२ एरंडका बीज सूर्यके तापमें सूख कर चटकता है तब उसकी मींजी आकाशमें ऊँची जाती है उसी प्रकार कर्मावरणका डिब्बा चैतन्यके वीतरागताके तापसे खुला तब आत्मा सहज कोई ही आकाशमें ऊँचा गया और फिर नीचे आनेका किसी भी कर्म निमित्त नहीं रहा।

३ अग्निशिखा—जैसे अग्निकी ज्वाला आकाशकी तरफ ऊँची जाती है उसी प्रकार आत्मज्ञान ज्योति ऊपर जाती है।

४ १८ वीं गाथामें वर्णित तूँबीके दृष्टातकी तरह आत्मा कर्म रहित होकर ऊपर जाता है। यह ध्यान रखना चाहिए कि दृष्टात एक देशी होते हैं वे सब प्रकारसे लागू नहीं होते।

'सिद्धालय प्राप्त सुस्थित जो'—चैतन्यरूप सिद्धात्माका स्वक्षेत्र असख्यात प्रदेशी है, वह अपने राज्यमें, शिव सुखमें सुशोभित पुरुषाकारमें अरूपी घन चैतन्यमूर्ति अपने स्वरूप-सिद्ध क्षेत्रमें निश्चल निराबाधरूपसे सदा ही स्वतत्ररूपसे स्थिर रहता है। फिर जन्म मरण नहीं है यह त्रिकाली नियम है।

'सिद्धालय प्राप्त सुस्थित जो'–अपने आत्मामें अच्छी तरह स्थित रहना। सिद्ध क्षेत्रमें अनत सिद्ध जीव हैं तब भी एक आत्मद्रव्य अन्य आत्मद्रव्यमें मिलता नहीं है किन्तु सब आत्मा स्वतत्ररूपसे स्वसत्ताको स्थिर रखते हुए नित्य रहते हैं। किस प्रकार? ऐसे जैसा कि कहा है—

'सादि अनंत अनंत समाधि सुख माँ
अनंत दर्शन ज्ञान अनंत सहित जो।'

आत्मामें मोक्ष पर्याय शक्तिरूपसे था उसका उत्पाद हुआ अर्थात् मोक्ष स्वभाव प्रकट हुआ। वह परमात्म पद प्रकट हुआ वह 'आदि' हुई, अब यह आत्मा अनंतकाल पर्यंत शाश्वत सिद्ध दशमें अपना अनंत सुख भोगेगा अर्थात् निराकुल स्वभावका अव्याबाध आनंद लेगा इससे वह अनंत है।

जीव सुख चाहते हैं, वह अनंत सुख-आरोग्य सद्दर्शन और ज्ञान प्राप्तिसे मिलता है इसलिए सब प्रथम सम्यग्दर्शनका उपाय करो। सम्यग्दर्शन होनेसे समाधि प्रकट होती है। समाधिका अर्थ है अपने शुद्धात्मस्वरूपका यथार्थ अनुभव हो और अंतमें समाधिमरण होता है जिसमें पंडित वीर्य सहित पूर्ण ज्ञान और स्वरूपकी स्थिरता सहित शरीर छूटता है और पूर्ण स्वरूप समाधि सादि अनंत सुखमें सदा स्थिर रहने में है ऐसे अपूर्व अवसरकी भावना यहाँ की गई है।

आत्माका स्वभाव अनंत आनन्द सुखरूप है। पूर्ण शुद्ध स्वरूप की श्रद्धा, ज्ञान और स्थिरता द्वारा शक्तिरूप विद्यमान मोक्ष स्वभाव प्रगट होने पर सहज आनंदका स्वाद आता है। क्योंकि वह सच्चा सुख स्वात्मासे उत्पन्न है, अविनाशी है।

चनेका दृष्टांत—जैसे कच्चा चना स्वादमें कडुवा लगता है और बो देने पर उगता है किन्तु जब उसको सेककर खावें तब स्वाद में मीठा लगता है और बोने पर नहीं उगता। चनेका वह मिठास धूपमेंसे कढ़ाईसे या अग्निमेंसे प्रकट नहीं हुआ वह चनेमेंसे

ही प्रकट होता है, उसीप्रकार श्रद्धा, ज्ञानकी स्थिरतासे कर्म बंधनकी चिकनाई दूर कर वीतराग दशा प्रकट करे तो अपना अनत आनन्द जो शक्तिरूप में है, वह प्रकट होकर स्वाद दें और फिर ससार बीज-रूप जन्म धारण करना नहीं हो।

प्रश्न—शक्कर खाने पर उसके मिठासका स्वाद आत्माको कैसे आवे ?

उत्तर—आत्मा कहीं मीठा नहीं होता। आत्मा सदा अरूपी होनेसे स्पर्श नामका मूर्तिक गुण उसमें नहीं है, आत्मा मीठापनका ज्ञान करता है उससे आत्मामें जडका स्वाद प्रविष्ट नहीं होता, शक्कर-का स्वाद कोई नहीं लेता किन्तु उसके स्वादको ज्ञानी जानता है और अज्ञानी उसमें राग करता है। शक्कर जड-रूपी है आत्मा अरूपी है। "मैं मीठा स्वादवाला हूँ" यह मानकर अज्ञानी रागका अनुभव करता है अर्थात् तत्सम्बन्धी विपरीत ज्ञान कर रागरूप हर्षको भोगता है। राग दुःख है, जब कि आत्माका स्वभाव शांत एव आनन्दमय है किन्तु अपनेको भूलकर 'मैं परका सम्बन्धरूप उपाधिवाला हूँ, अशातिवाला हूँ' ऐसा अज्ञानी जीव मानता है तो भी उसका जो आनद शातिस्वभाव है वह दूर नहीं होता। जैसे कच्चे चने में स्वाद अप्रकट है जो कि उसके सेकने पर उसमें से ही प्रकट होता है उसीप्रकार चेतन में आनंद, शाति, असीम सुख शक्तिरूपमें है जो यथार्थ विधिसे प्रकट होता है।

भगवान आत्मा केवल आनदमूर्ति है जो भूलकर उसे न्यून, हीन या विकारी मानता है वह रागद्वेषका कर्त्ता होता है

और परसे, सुख दु:खकी कल्पनाकर व्याकुल बन, हर्ष शोकको भोगता है। जीव अपने ज्ञानमें अस्थिरता भोगता है किन्तु कोई भी आत्मा परको नहीं भोगता है। स्त्री, धन इज्जत, देह, रागद्वेषादि या कोई भी वस्तु आत्मामें प्रविष्ट नहीं होती। स्वयं अतीन्द्रिय और शाश्वत होते हुए भी अज्ञानी अपनेको भूलकर परवस्तुमें ममता द्वारा रागद्वेष करता है और हर्ष शोकरूप अपनी विकारी अवस्थाको भोगता है। बिच्छु काटे तब दुख होता है तब ज्ञानी यह मानता है कि यह देहकी ममताका राग है। बिच्छूके जहरका परमाणुरूपी रजकण अरूपी आत्मामें प्रविष्ट नहीं होता किन्तु अज्ञानी आत्मा अपनेको भूल कर देहमें स्वामीत्व द्वारा 'मैं दुखी हूँ' ऐसा मानता है। वह स्वयं अपनेको पररूप होना मानता है किन्तु वह वैसा नहीं हो जाता। यदि वह परमात्वरूप होजावे तो क्षमा, शांति, आनंद, ज्ञान आदि स्वगुण-मय नहीं हो सकते।

आत्मा ज्ञानत्वसे सदा प्रकट है तो भी उसमें अन्य मानना या परका कर्तृत्व या भोक्तृत्व मानना अज्ञानभाव है। वह अज्ञानमय-भाव क्षणिक होनेसे ज्ञानमयभाव द्वारा दूर हो सकता है। इससे सिद्ध होता है कि निज शुद्धस्वरूप मोक्ष आत्माका स्वभाव है किन्तु बन्धन, भूल, अशुद्धत्व यह स्वभाव नहीं है। अनंत आनन्द, अनन्त सुख, अनंत श्रद्धा और अनंतवीर्य से आत्मा परिपूर्ण है। जिसका सहज स्वभाव शुद्ध ही है उस स्वभावकी सीमा-अन्त क्या? यह निज तत्त्व जैसा है वैसा पहचाने और उसकी रुचि करे और उसीप्रकारके पुरुषार्थ द्वारा स्थिरता करे तो यह आत्मा पूर्ण स्वरूप होकर सहज स्वतंत्र सुखदशा प्रकट करे।

शास्त्रमें कहा जाता है कि सब जीवात्मा सुख चाहते हैं किन्तु वे सुखके कारणोंका संयोजन नहीं करते। अनंतसुखके कारण सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र हैं। संसारी जीवोंने उस मार्गको कभी ठीक रूपमें सुना नही, कभी अपनाया नहीं। अत. वे सुख तो चाहते हैं किन्तु सुखका सच्चा उपाय नहीं करते। वे दुखको नहीं चाहते किन्तु दुखके कारणोंको नहीं छोडते। दु'खका दूसरा नाम अशांति है उस अशांतिका कारण अज्ञान अथवा दर्शनमोह–मिथ्यात्व है, स्वरूपकी भूल है। उस विपरीत मान्यतारूप अज्ञानका अभाव सम्यग्दर्शन और सम्यक्ज्ञान-से ही होता है।

पुण्य–पाप और रागद्वेषरूप उपाधिसे भिन्न ऐसा ज्ञानानद स्वरूपकी श्रद्धा समझ और उसमें स्थिरता सत्य पुरुषार्थ द्वारा क्रमश' पूर्णरूपसे प्रकट होती है और उससे सादिअनत निराकुलरूप सुख-दशा प्रकट होती है। निराकुलताका तात्पर्य आधि, व्याधि और उपाधि रहित शांति से है।

आधि'—मनके शुभाशुभ विकल्परूप विकारी कार्य अर्थात् चैतन्यकी अस्थिरता।

व्याधि'—शरीरकी रोगादि पीड़ा।

उपाधि'—स्त्री, धन, पुत्र इज्जत आदिकी चिन्ता।

उपरोक्त आधि, व्याधि और उपाधिरूप आकुलता रहित सहजानन्दरूप सुखदशा है उस अनत समाधि सुखमें अनत सिद्ध भगवान विराजमान हैं।

'अनतदर्शन, ज्ञान अनंत सहित जो'। आत्मामें अनतवीर्य

(स्वसामर्थ्य विशेषरूप बल) होनेसे उसके समस्त गुण अनंतशक्ति-वाले हैं जैसे बनेमें स्वाद था वह बनेमेंसे ही प्रकट होता है। आत्माने अनंत आनंद दर्शन ज्ञान शक्तिको भूलकर विपरीत परिणमन किया है यही आत्मा अनंत स्वाधीनताका मानकर अनंत दर्शन ज्ञान वीर्य और आनन्दको शक्तिमें से प्रकट कर सकता है किन्तु जबतक अपने स्वरूपका भान नहीं है तबतक वह स्वतंत्रता पराधीन है और इसीसे वह दुखी है, पराधीनको स्वप्नमें भी सुख नहीं है।

ज्ञानी धर्मात्मा एक परमाणुसे लेकर इन्द्रपद चक्रवर्तीपद मिले ऐसी किसीभी प्रकारकी पुण्यकी पराधीनताकी इच्छा नहीं करता इसीसे पूर्ण शक्तिको स्वाधीन मानकर स्वाधीनताका पुरुषार्थ करनेसे मोक्षस्वभाव प्रकट होता है। ज्ञानी शुभ विकल्प भी नहीं चाहता क्योंकि शुभ परिणाम भी बाधक है।

पुण्य पापरूप रागद्वेषका अवलम्बन पराधीनता है। इससे ज्ञानी कहता है कि संसारी जीव सुख चाहते हैं किन्तु जो सुखका मार्ग-स्वाधीनताका उपाय है उसे भूलकर पराधीनताका कार्य करे तब उससे स्वाधीनताका फल कैसे प्रकटे ? विकारी रागरूप कारणमें से अविकारी वीतराग कार्य नहीं प्रकटता। अतः प्रथम सभी समझपूर्वक आत्माकी रुचि करनेकी जरूरत है। यहाँ सम्य-ग्दर्शन सहित पूर्ण शुद्ध स्वरूपकी रुचि और तद्रूप पुरुषार्थ स्वरूप अपूर्व अवसरकी प्राप्तिकी भावना है।

'अनंत दर्शन, ज्ञान अनंत सहित जो।'

चेतना आत्माका गुण है वह दो प्रकारका है।

१-दर्शन चेतना—इसका व्यापार निर्विकल्प, निराकार सामान्य प्रतिभास है।

२-ज्ञान चेतना—इसका व्यापार सविकल्प, स्व-पर प्रकाशक, साकार और विशेष प्रतिभास है। दर्शनका लक्षण सामान्य सत्तामात्र अवलोकन है उसमें स्वपरका भेद नहीं है।

अब दर्शनोपयोगकी व्याख्या की जाती है—

एक पदार्थ सबधी ज्ञानका विकल्प छूटकर दूसरे पदार्थकी तरफ उत्सुकता जैसा झुकाव हुवा और अब जहाँ तक दसरा पदार्थ सम्बन्धी ज्ञान नहीं हुआ, उस बीचके (अल्पसमयमें) सामान्य प्रतिभासरूप दर्शन चेतनामय उपयोग होता है यह व्याख्या छद्मस्थ जीवके दर्शन उपयोगकी है, सिद्ध भगवान और केवलज्ञानी सर्वज्ञ के एक ही समयमें ज्ञान और दर्शन उपयोग एकसाथ वर्तते हैं। जो अनन्त सामर्थ्य स्वरूप दर्शन और ज्ञान उपयोग युगपत् है। उसमें विश्वके समस्त जीव अजीव द्रव्योंका सामान्य-विशेप सर्वभाव एक समय मात्रमें सहज जाने जाते हैं। निश्चयसे सर्वज्ञके अनन्त दर्शन ज्ञानकी असीम शक्ति है और अनन्त सुख है तथा समस्त गुणों को स्थिर रखनेवाला अनन्तवीर्य (बल) नामक गुण है। ऐसे अनन्त गुणोंवाली पूर्ण परमात्मदशा प्रकट हो ऐसा 'अपूर्व अवसर' कब आवे ? इसकी यहाँ भावनाकी गई है ॥१६॥

जे पद श्री सर्वज्ञे दीठूं ज्ञान माँ
कही सक्या नहीं पण ते श्री भगवान जो

तेह स्वरूपने अन्य वाणी ते शूं कहे
अनुभव गोचर मात्र रह्यु ते ज्ञान जो ॥म०॥२०॥

उसीभगवानने तेरहवें गुणस्थानमें जो लोकालोकका सम्पूर्ण स्वरूप जाना है उसे वे स्वयं भी वाणी द्वारा पूर्णरूपसे व्यक्त नहीं कर सके हैं क्योंकि वाणी जड है जो जितना ज्ञानगम्य है उतना वचनमें आता नहीं। जो स्वरूप सर्वज्ञभगवानने केवलज्ञानमें पूर्णतया जाना है किन्तु वाणी द्वारा तो साक्षात् तीर्थंकर भगवान भी पूर्णतया कह सकते नहीं, सर्वज्ञभगवान स्व-पर सर्व आत्माको प्रत्यक्ष जानते हैं, छद्मस्थ ज्ञानी परोक्ष ज्ञान द्वारा जानते हैं किन्तु केवलज्ञानके समान प्रत्यक्ष नहीं जान सकते, फिर भी अपनी आत्माको लक्ष्यमें लेकर स्वानुभवद्वारा अपने स्वरूपकी शान्ति-आनन्द को स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे जानते हैं, आनन्दका प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते हैं। स्वसन्मुखतारूप भावश्रुतज्ञान उपयोगकी स्थिरताके समय जो आनन्द वह संवेदन अपेक्षा प्रत्यक्ष है किन्तु आंशिक प्रत्यक्ष अनुभव होता है। (सर्वथा प्रत्यक्ष तो केवलज्ञानमें ही है।) जैसे अंधा मनुष्य शक्कर खावे और उसका मिठास अनुभवे किन्तु उसका आकार नहीं देख सकता उसीप्रकार चौथे व आगे के गुणस्थानोंमें आत्माके आनन्दका आंशिक अधिकाधिक अनुभव होता है किन्तु उन गुणस्थानोंमें आत्मप्रदेश प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर नहीं होते।

केवलज्ञान प्रकट होनेपर अनन्तदर्शन, अनंतज्ञान, अनंत-सुख और अनंतवीर्य प्रकट होते हैं। वे केवली यदि तीर्थंकर हों तो उनके ॐ रूप आत्माको प्रकाशित करनेवाली दिव्य ध्वनि सहजही

खिरे। उनकी अपनी इच्छा बिना भाषा सहज ही प्रस्फुटित होती है। भगवान आत्माका अरूपी ज्ञानघनस्वभाव है उसे तथा छः द्रव्यांमें सन्निहित अनत धर्म हैं उसको अनेकान्तपना न्यायसे समझाते हैं।

वाणी द्वारा अल्प सकेत मात्र किया जा सकता है और चतुर पुरुष उसे समझ लेता है। अनत जड रजकणोंसे निर्मित वाणी द्वारा आत्माका वर्णन पूर्णरूपसे नहीं हो सकता किन्तु भव्य-जनोंके अनत उपकारकी निमित्तरूप अद्भुत वाणीका योग तीर्थंकर भगवानके होता है। गणधरदेवने उस वाणीके आधार पर बारह अग रूप विशाल शास्त्राकी रचना की किन्तु फिरभी अतमें यही कहा कि यह शास्त्र रचनामें स्थूल कथन ही है।

जड़ वाणी द्वारा अरूपी अतीन्द्रिय भगवान आत्माका सपूर्ण वर्णन कैसे हो सकता है फिर भी उसका साकेतिक विवेचन किया गया है। अनेक नय, प्रमाण, निक्षेपों द्वारा पदार्थोंका स्थूल और सूक्ष्म कथन न्याय पूर्वक किया गया है। आत्मा निरपेक्ष तत्त्व है, वह पर निमित्तकी अपेक्षासे रहित है फिर भी कथन भेद द्वारा अनेकातधर्म सहित उसका कथन किया गया। वर्णादि रूपी गुण-वाली जड़ वाणी आत्माका कितना कथन कर सके ? किन्तु श्रोता स्वयं शब्दादिसे भिन्न वाच्यार्थरूप आत्माको सत्समागम और गुरूपदेश द्वारा समझ सकता है। आत्मतत्त्व अनुपम होनेसे किसी जड वस्तुके साथ उपमा देकर उसकी तुलना नहीं की जा सकती। खानेवाला गायके ताजे घी का स्वाद अनुभव कर सकता है किन्तु उसकी अन्य वस्तुसे उपमा देकर तुलना कर उसका सतोषजनक वर्णन नहीं

किया जा सकता। तो फिर अरूपी अतीन्द्रिय आत्माका वर्णन विकल्प और वाणी द्वारा कैसे किया जा सकता है? भगवान वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा तीर्थंकरदेवके वाणीका योग था किन्तु वे भी आत्मा-का वर्णन पूर्णरूपसे नहीं कर सके, उन्होंने तो कथंचित् संकेत द्वारा ही आत्माका वर्णन किया है। आत्माके अनुभवी वर्तमान ज्ञानी पुरुष अन्य भव्यजीवोंको वाणी द्वारा सर्वप्रथम जीवका लक्षण बताते हैं फिर बादमें लक्षण द्वारा वस्तु तत्त्व समझाते हैं। जैसे कोई पुरुष संकेत कर बताये कि नीमकी शाखाके ऊपर बाँई बाजू चन्द्रमा है तत्पश्चात् उस संकेतको समझने वाला लक्ष्य पर दृष्टि करे तो चन्द्रमा दिखे किन्तु अंगुली वृक्ष आदि निमित्तों पर दृष्टि करे तो चन्द्रमा नहीं दिखे उसी-प्रकार भव्यजीव श्री गुरु के पास रहकर सत्समागम द्वारा अभ्यास करे और श्री गुरु अतीन्द्रिय आत्माको अनेक नय प्रमाणों आदि द्वारा उसे समझावे और उसके परमार्थको शिष्य समझ जावे तो वह सद्बोध रूपी चन्द्रोदयका दर्शन करे और पुरुषार्थ द्वारा पूर्णताको प्राप्त करे किन्तु ज्ञानीके आशयको नहीं समझे तो सद्बोधरूपी चन्द्रोदयका दर्शन नहीं हो। स्वरूप समझनेके लिये सावधान होकर समस्त विरोधों को दूर कर शिष्य श्री गुरुके आशय को समझे तो उसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो और साथ ही स्वभावकी पूर्णता प्राप्त करनेके लिये पुरुषार्थ की स्थिरता करे।

द्वितीया के चन्द्रमाका वर्णन निम्न तथ्य प्रकाशित करता है—

१—वह पूर्ण चन्द्रमाका आकार बताता है।

२—उस समय वह जितना उघड़ा हुआ है और—

३-कितना उघड़ना शेष है।

साधक पूर्णताके लक्ष्यमें पुरुषार्थ करता है वह पुण्यादि उपाधियोंको देखकर उनमें नहीं अटकता। अपने अखंड शुद्धात्मा पर ही दृष्टि है इससे पूर्ण आत्मा कैसा है, कितना विकासरूप-अनावृत्त है कितना अनावृत्त होना शेष है, यह जानते हुए साधक शीघ्र पूर्णताको प्राप्त करता है।

जिन्होंने अपने आत्माकी महिमा नहीं जानी,उसकी रुचि प्रतीति नहीं की कि मैं कौन हूँ, मैं क्या कर सकता हूँ और क्या नहीं कर सकता हूँ, जिनको ऐसा प्राथमिक ज्ञान भी नहीं हुआ वे बाह्यसे जो कुछ करें वह मिथ्या है, वह आत्महितमें साधक नहीं है। अपनी योग्यता और सद्गुरुके उपदेश बिना हिताहितका विवेक जागृत नहीं होता। अनन्तकाल तक अपनेको भूलकर अन्य बहुत कुछ किया किन्तु उससे ससार भ्रमण ही हुआ।

श्री गणधरदेव हजारों सन्त मुनियोंके नायक तीर्थंकर भगवानके प्रधान थे, श्री भगवानकी वाणीके आशयको-विशालरूप-में धारणकर रखनेवाले वे चार ज्ञानके धारी थे, उन्होंने भगवानकी वाणीका आशय ग्रहणकर जिन सूत्रोंकी बारह अगरूप रचना की थी। श्री सर्वज्ञ भगवानने केवलज्ञान द्वारा जैसा आत्मस्वरूप जाना वे उसका अनन्तवाँ भाग वाणी द्वारा कह सके, जितना वाणी द्वारा पदार्थका कथन हुआ उसका अनतवाँ भाग श्री गणधर देव अपने ज्ञानमें ग्रहणकर सके और उसका अनतवाँ भाग दूसरोंको समझा सके और सूत्रों की रचना कर सके।

हजारों सन्त मुनिवरोंमें अग्रसर ऐसे श्री गणधर देवने जगतके हितके लिए जिन बारह अंगोंकी रचना की उसका मुख्य सार 'श्री समयसारजी शास्त्र'में है। फिर भी कागज, शब्द, वाणी आदि अनंत रजकणोंके समूह द्वारा और मनके विकल्प द्वारा अतीन्द्रिय आत्माका वर्णन पूर्ण नहीं हो सकता, किन्तु कथंचित् शब्द द्वारा, नय, प्रमाण दृष्टिके भेद द्वारा आत्माको बताया जा सकता है, आत्मतत्त्व सर्वथा अवक्तव्य नहीं है-

आत्मा मन-वाणी और इन्द्रियोंसे भिन्न है इसलिए—

"ऐह स्वरूपने अन्य वाणी ते शुं कहे ?
अनुभवगोचर मात्र रह्युं ते ज्ञान जो ॥"

जिसका सम्यग्दर्शन द्वारा स्वानुभव हुआ उसने पूर्ण शुद्धताके लक्षसे आंशिक स्वानुभव सहित पूर्ण द्रव्यको जान लिया है। "मैं शुद्ध हूँ, मुक्त हूँ"-ऐसे मनके विकल्पों द्वारा स्वरूपानन्दका अनुभव नहीं होता किन्तु रागरहित ज्ञानकी स्वमें स्थिरता (-एकाग्रता) द्वारा सम्यग्ज्ञानी अपनी आत्माको परोक्ष और प्रत्यक्ष प्रमाणसे जानता है इससे वह सिर्फ (मात्र) ज्ञानगम्य है ॥ २० ॥

एह परमपदप्राप्तिनुं कर्युं ध्यान में
गजावगरने हाल मनोरथरूप जो;
तो पण निश्चय राजचन्द्र मनने रह्यो,
प्रभुआज्ञाए थाशुं ते ज स्वरूप जो ॥अपू०॥२१॥

अपूर्व अवसर काव्य पूर्ण करते हुए श्रीमद् रायचन्द्र कहते हैं कि मैंने पूर्ण शुद्ध आत्मस्वरूपकी पूर्ण पवित्र स्थितिको प्राप्त करनेके लिए स्वानुभवके लक्षमें ध्यान किया किन्तु अभी वह सामर्थ्यसे बाहर और मनोरथरूप ही है। मनन-चिन्तनरूपी रथ द्वारा अपूर्व रुचिसे पूर्णताकी भावना करता हूँ। पूर्णता की प्राप्तिके लिए जैसा पुरुषार्थ और स्वरूपस्थिरता होनी चाहिए, वे वर्तमानमें सुलभ नहीं हैं। यथार्थ निर्ग्रंथत्वका पुरुषार्थ करनेरूप शक्तिमें, वर्तमानमें निर्बलता दृष्टिगोचर होती है किन्तु वर्तमानमें भी दर्शन विशुद्धि अवश्य है इससे निश्चय शुद्ध स्वरूपके लक्ष्यसे एक भव बाद, जहाँ साक्षात् सर्वज्ञ प्रभु तीर्थंकर विराजमान होंगे वहाँ प्रभु आज्ञासे आत्माका चारित्र धारण कर निर्ग्रंथ मार्गमें उत्कृष्ट साधक स्वभावका विकास कर बीसवीं गाथामें वर्णित परम पद पाऊँगा। वीतरागकी आज्ञाका बहुमान करते हुए साधक कहता है कि मेरी आत्मामें ऐसा निःसंदेह निश्चय है कि अगले जन्मके बाद पुनः शरीर धारण नहीं करना है।

प्रभु आज्ञा स्वीकार करनेका तात्पर्य है कि सर्वज्ञ वीतराग भगवानने जैसा चैतन्य स्वभाव जाना है और जिस उपायसे परमपद प्राप्त किया उसीके अनुसार मुझे प्रवृत्त होना। जिनाज्ञानुसार निर्ग्रंथ मार्गमें वीतराग स्वरूपकी आराधना कर परमात्मस्वरूपकी प्राप्ति करेगा उसमें किसी प्रकारकी शंका नहीं है ऐसा दृढ विश्वास उसने अपनी आत्मामें निश्चल किया है। जिसकी अनुभव दशामें इस प्रकारकी निःशंकता हो उसका एक ही भव बाकी है, यह श्रीमद्‌ने प्रभु आज्ञाका विश्वास कर कहा। 'प्रभु आज्ञा' महान सूत्र है,

इसमें भगवान प्रत्यक्ष ज्ञानमें गर्भित आज्ञा और उसके साथ अपने आराधक भावोंकी संधिका यथार्थ निश्चय सन्निहित है। जो श्री राजचन्द्रजीने स्वानुभव प्रमाण द्वारा निर्णय किया है इस सूत्रमें 'मोक्ष स्वरूप प्रकट करूँगा' ध्वनित होता है। इस ध्वनिका 'अपूर्व अवसर' कब आयगा? यह महामंगलमय भावना करते हुए श्रीमद्‌ने 'अपूर्व अवसर' नामक मंगल काव्य पूर्ण किया ॥ २१ ॥

निर्मलता के लिये सद्‌दृष्टिवान् को सूचन (उपदेश)

आत्मस्वभावकी निर्मलता करनेके लिये मुमुक्षु जीवको दो साधन अवश्य करके सेवन करके योग्य हैं-सत्‌श्रुत और सत्‌समागम। प्रत्यक्ष सत्पुरुषोंके समागम क्वचित् क्वचित् जीवको प्राप्त होते हैं, किन्तु यदि जीव सद्‌दृष्टिवान हो तो सत्‌श्रुतके बहुत समयके सेवनसे होनेवाले लाभ प्रत्यक्ष सत्पुरुषकी संगति करनेसे बहुत अल्पकालमें प्राप्त कर सकते हैं, कारण कि प्रत्यक्ष गुणातिशयवान् निर्मल चेतना प्रभाववाले वचन और वाणीरूप क्रियाचेष्टितपना है जिसको ऐसा समागम योग (संगति) प्राप्त हो ऐसा विशेष प्रयत्न करना योग्य है, और ऐसे योगके अभावमें सत्‌श्रुत (सच्चेशास्त्र)का परिचय अवश्य करने योग्य है, शान्तरसकी जिसमें मुख्यता है, शान्तरसके हेतु से जिसका सभी उपदेश है, ऐसा शास्त्रका परिचय वह सत्शास्त्रों का परिचय है।

क्या साधन शेष रह गया ? कैवल्य बीज क्या ?

यम नियम संयम आप कियो, पुनि त्याग विराग अथाग लह्यो,
वनवास लियो मुख मौन रह्यो, दृढ़ आसन पद्म लगाय दियो ॥१॥

मनपौन निरोध स्वबोध कियो, हठ जोग प्रयोग सुतार भयो,
जप भेद जपे तप त्यौंहि तपे, उरसेंहि उदासि लही सब पें ॥ २ ॥

सब शास्त्रन के नय धारि हिये, मतमण्डन खण्डन भेद लिये;
वह साधन बार अनन्त कियो, तदपी कछु हाथ हजू न पर्यो ॥ ३ ॥

अब क्यौ न विचारत है मनसे, कछु और रहा उन साधन से ?
बिन सद्गुरु कोउ न भेद लहे, मुख आगल है कह बात कहे ? ॥ ४ ॥

करुना हम पावत है तुमकी, वह बात रही सुगुरू गमकी,
पलमें प्रगटे मुख आगलसे, जब सद्गुरुचर्नसु प्रेम बसे ॥ ५ ॥

तनसे, मनसे, धनसे, सबसे, गुरुदेव कि आन स्वआत्म बसे,
तब कारज सिद्ध बने अपनो, रस अमृत पावहि प्रेम घनो ॥ ६ ॥

वह सत्य सुधा दरसावहिंगे, चतुरांगुल हैं दृगसे मिल है,
रसदेव निरंजनको पिवही, गहि जोग जुगोजुग सो जिवही ॥ ७ ॥

पर प्रेम प्रवाह बढ़े प्रभुसे, सब आगम भेद सु ऊर बसे,
वह केवल को बीज ग्यानि कहे, निजको अनुभौ बतलाइ दिये ॥ ८ ॥

अमूल्य-तत्त्व-विचार

* हरिगीत छन्द *

(अनुवादक गुणभद्रजी (कोटा) M A साहित्य रत्न)

बहु पुण्य-पुञ्ज-प्रसंगसे शुभ देह मानवका मिला,
तो भी अरे ! भवचक्रका फेरा न एक कभी टला।
सुख-प्राप्ति हेतु प्रयत्न करते सुक्ख जाता दूर है,
तू क्यों भयंकर-भाव-मरण-प्रवाहमें चकचूर है ॥ १ ॥
लक्ष्मी बढ़ी, अधिकार भी, पर बढ़ गया क्या बोलिये,
परिवार और कुटुम्ब है क्या वृद्धि ? कुछ नहिं मानिये।
संसारका बढ़ना अरे ! नर-देहकी यह हार है,
नहिं एक क्षण तुमको अरे ! इसका विवेक विचार है ॥ २ ॥
निर्दोष सुख निर्दोष आनँद लो जहाँ भी प्राप्त हो,
यह दिव्य अंतस्तत्त्व जिससे बंधनोंसे मुक्त हो।
'परवस्तुमें मूर्छित न हो' इसकी रहे मुझको दया,
वह सुख सदा ही त्याज्य रे। पश्चात् जिसके दुख भरा ॥ ३ ॥
मैं कौन हूँ, आया कहाँ से, और मेरा रूप क्या ?
संबंध दुखमय कौन है ? स्वीकृत करूँ परिहार क्या ?
इसका विचार विवेकपूर्वक शान्त होकर कीजिये,
तो सर्व आत्मिक-ज्ञानके सिद्धान्तका रस पीजिये ॥४॥
किसका वचन उस तत्त्वकी उपलब्धिमें शिवभूत है ?
निर्दोष नरका वचन रे ! वह स्वानुभूति प्रसूत है।
तारो अरे तारो निजात्मा, शीघ्र अनुभव कीजिये
'सर्वात्ममें समदृष्टि दो' यह वच हृदय लिख लीजिये ॥ ५ ॥

रत्न कणिका

जो स्व-पर, जीव-अजीव, क्रोधादि आस्रव और आत्माके, भेदको जानता है वह ज्ञाता है कर्ता नहीं है।

उष्ण जलमें अग्निकी उष्णता और जलकी शीतताका भेद ज्ञानसे ही प्रगट होता है, सागादि व्यंजनके स्वादसे लवणके स्वादका सर्वथा भिन्नत्व ज्ञानसे ही प्रकाशित होता है, निज रससे विकसनेवाली नित्य चैतन्य धातुका और क्रोधादि भावोंका भेद,—कर्तृत्वका भेदन पूर्वक-ज्ञानसे ही प्रगट होता है।

आत्मा ज्ञानस्वरूप है, स्वयं ज्ञान ही है, वह ज्ञानके सिवा दूसरा क्या करे ? आत्मा परभावोंका कर्त्ता है ऐसा मानना वह व्यवहारी जीवोंका मोह है।

वचनामृत वीतरागके, परमशान्तरस मूल,
औषध जो भवरोग के, कायरको प्रतिकूल,

आत्म चिंतन

मैं चेतन, असख्यात प्रदेशी, सदाय अमूर्त, ज्ञानदर्शनमय सिद्धस्वरूप, शुद्धात्मा हूँ।

मैं अन्य द्रव्य नहीं, परद्रव्य मेरा नहीं, मैं परद्रव्य नहीं, मैं अन्यका नहीं और अन्य मेरा नहीं, अन्य अन्य है, मैं मैं हूँ, अन्य अन्यका है, मैं स्वका हूँ। शरीर मुझसे अन्य है, मैं शरीरसे अन्य हूँ; मैं चेतन हूँ,शरीर अचेतन है, वह अनेक है मैं एक हूँ, यह शरीर और शुभाशुभ आस्रव विनाशी है, मैं अविनाशी हूँ।

जीवादि द्रव्यके यथार्थ स्वरूपको जाननेवाला मैं स्व द्वारा स्वमें स्वको जैसा मैं हूं वैसा देख रहा हूं और अन्य पदार्थोंके विषयोंके प्रति उदासीन हूं, रागद्वेष रहित मध्यस्थ हूं।

मैं सत्द्रव्य हूं, ज्ञान हूं, ज्ञाता दृष्टा, सदा उदासीन और प्राप्त शरीर प्रमाण होने पर शरीरसे पृथक्–आकाशके समान अमूर्त हूं।

मैं सदा स्वस्वरूप आदि स्वचतुष्टय (स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव) की अपेक्षा सत्रूप हूं और पररूपकी अपेक्षा सर्वथा असत्रूप हूं।

जो कुछ भी जानते नहीं, जिसने कुछ भी जाना नहीं, और भावि-कालमें कभी कुछ जान सकेगा ही नहीं, ऐसे शरीर आदि हैं वे मैं नहीं।

जिसे पहले जाना था, जो भाविमें जानेगा और वर्तमानमें जो जाननेयोग्य है ऐसा चित्द्रव्य मैं वास्तवमें ज्ञायक ही हूं।

यह जगत स्वयं इष्ट या अनिष्ट नहीं है किन्तु उपेक्षा योग्य है; मैं भी राग–द्वेषका करनेवाला नहीं हूं परन्तु स्वयं उदासीन स्वरूप ही हूं।

शरीर आदि मुझसे भिन्न हैं मैं भी तत्त्वतः उन सबीसे भिन्न हूं, मैं उनका नहीं और वे भी मेरे कुछ नहीं। मैं देह, मन वाणी नहीं हूं न उसके कार्यका कर्ता, न करानेवाला, न प्रेरक हूं, किन्तु स्वसन्मुख, शान्त, पूर्ण ज्ञानघनज्ञाता ही हूं।

इसप्रकार–सम्यक्प्रकारसे स्व आत्माको अन्य पदार्थोंसे आस्रवों-से भिन्न और त्रैकालिक पूर्णज्ञानादि स्वभावोंसे अभिन्न ऐसा मैं हूं ऐसा निर्णयकरके निजभाव–आत्ममयीभावको करनेवाला ऐसा मैं अन्य कुछ भी चिन्तन नहीं करता।

* श्री वीतरागाय नमः *

श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य विरचिता द्वादशानुप्रेक्षा

बारह भावना

परम शुक्ल ध्यान द्वारा दीर्घ संसारका क्षय करनेवाले सर्व सिद्धों और चौवीस तीर्थकरोंको नमस्कार कर मैं बारह अनुप्रेक्षा-भावनाओंका कथन करता हूँ ॥ १ ॥

बारह भावनाओंके नाम —अध्रुव, अशरण, एकत्त्व, अन्यत्त्व, संसार, लोक, अशुचित्व, आस्रव, सवर, निर्जरा धर्म और बोधि-दुर्लभका चिन्तवन करना चाहिए ॥ २ ॥

अनित्य भावना

देवों, मनुष्यों और राजाओंके सुन्दर महल, रथ, वाहन, शय्या–आसन, तथा माता, पिता, कुटुम्बीजन, सेवक सम्बन्धी और प्रिया स्त्री भी अनित्य है ॥ ३ ॥

जिस प्रकार इन्द्रधनुष शाश्वत नहीं है उसी प्रकार पाँचों इन्द्रियोंका स्वरूप, आरोग्य, यौवन, बल, तेज, सौभाग्य और लावण्य शाश्वत नहीं है ॥ ४ ॥

अहमिन्द्रोंकी पदवी तथा बलदेव, नारायण, चक्रवर्ती आदिकी पर्याय भी पानीकी लहर या बुदबुदेके समान, इन्द्रधनुष समान, बिजलीकी चमक समान और बादलों की रग विरगी शोभाके समान स्थिर नहीं है ॥ ५ ॥

दूध-पानीकी तरह जीव निबद्ध शरीर शीघ्र नष्ट हो जाता है। तब भोग और उपभोग के कारणरूप पदार्थ किसप्रकार नित्य रह सकते हैं ॥ ६ ॥

परमार्थतः आत्मा देव, असुर, मनुष्य और राजाके वैभवसे भिन्न है, वह आत्मा ही शाश्वत है ऐसा चिंतवन करना चाहिए ॥७॥

अशरण भावना

मृत्युके समय जीवको तीनों लोकमें मणि मंत्र औषधि, रक्षक, घोड़ा, हाथी, रथ, सर्व विद्या आदि कुछ भी शरण नहीं है ॥८॥

जिनका स्वर्ग तो गढ़ है, जिनके देव नौकर चाकर हैं, जिनके वज्र हथियार हैं और ऐरावत जैसा गजेन्द्र है ऐसे इन्द्र के भी कोई शरण नहीं है ॥६॥

अन्तिम समयमें नवनिधि, चौदह रत्न, घोड़ा, मत्त गजेन्द्र और चतुरंगिणी सेना भी चक्रवर्तीको शरणरूप नहीं है ॥१०॥

जन्म, जरा, मरण, रोग और भयसे आत्मा अपनी रक्षा स्वयं करता है इसलिए कर्मोंके बन्ध, उदय और सत्तासे व्यतिरिक्त आत्मा ही शरण है ॥११॥

अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु पंच परमेष्ठी भी आत्मामें ही स्थित हैं इसलिए आत्मा ही मुझे शरण है ॥१२॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तप, ये चारों ही आत्मामें ही स्थित हैं इसलिए मुझे आत्मा ही शरण है ॥१३॥

एकत्व भावना

जीव अकेला ही कर्म करता है, अकेला ही दीर्घ संसारमें

परिभ्रमण करता है, अकेला ही जन्म धारण करता है और मरता है, अकेला ही अपने कृत्योंका फल भोगता है।१४।

जीव अकेला ही पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंके निमित्तसे तीव्र लोभ-से पाप करता है और उसका फल अकेला ही नरक तिर्यंच में भोगता है।१५।

जीव अकेला धर्म निमित्तमें पात्र दान द्वारा पुण्य करता है और उसका फल वह अकेला ही मनुष्य, देव गतिमें भोगता है।१६।

सम्यक्त्व गुण सहित मुनिको उत्तम पात्र और सम्यग्दृष्टि श्रावक को मध्यम पात्र समझना चाहिये।१७।

जैन शास्त्रोंमें व्रतरहित सम्यग्दृष्टिको जघन्य पात्र और सम्यक्त्व रत्न रहित जीवको अपात्र कहा है इसलिए उनकी अच्छी तरह परीक्षा करनी चाहिए।१८।

जो सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट है वह भ्रष्ट है, दर्शनभ्रष्ट जीवको मोक्षकी प्राप्ति नहीं है, जो चारित्र से भ्रष्ट है वह कभी मुक्ति प्राप्त करता है किन्तु दर्शनभ्रष्ट जीव सिद्धि प्राप्त नहीं करता है।१६।

सयमी ऐसा चितवन करता है कि मैं एक, निर्मम (ममत्त्व रहित) शुद्ध और ज्ञान दर्शनके लक्षणवाला हूँ, शुद्ध एकत्व ही उपादेय ग्रहण करने योग्य है।२०।

अन्यत्व भावना

माता, पिता, भाई, पुत्र, स्त्री आदि बन्धुजनोंके समूह जीवके सम्बन्धी नहीं हैं वे सब स्वार्थवश व्यवहार करते हैं।२१।

एक जीव अन्यकी चिन्ता करता है, 'यह मेरा है और यह

मेरे स्वामीका है' ऐसा माना करता है किन्तु संसाररूप महासागर में डूबे हुए अपने आत्माकी चिन्ता नहीं करता है।२२।

ये शरीरादि भी परद्रव्य हैं, ये जीव से भिन्न हैं, आत्मा ज्ञान दर्शन है ऐसी अन्यत्व भावनाका बार २ चिंतवन कर।२३।

संसार भावना

जिनमार्गको नहीं देखते हुए जीव जन्म, जरा, मरण, रोग और भयसे भरपूर पाँच प्रकारके संसारमें चिरकाल तक परिभ्रमण करते हैं।२४।

पुद्गल–परिवर्तनरूप संसारमें जीव सभी पुद्गल वर्गणाओंको बारम्बार ही क्रमा अनन्त बार भोगता है और छोड़ता है।२५। *

क्षेत्र परिवर्तनरूप संसारमें अनेक बार भ्रमण करते हुए इस जीवके लिए तीनों लोकके सर्व क्षेत्रोंमें ऐसा कोई स्थान बाकी नहीं रहा जहाँ यह क्रमशः अवगाहन द्वारा न उत्पन्न हुआ हो।२६। —

कालपरिवर्तनरूप संसारमें भ्रमण करते हुए जीव अवसर्पिणी उत्सर्पिणी कालके सब समय और आवलियोंमें अनेक बार जन्मता है और मरता है।२७। =

---

* जब कोई जीव अनन्तानन्त पुद्गलोंको अनन्त बार ग्रहण कर छोड़ देता है तब उसके एक पुद्गलपरावर्तन होता है ऐसे अनेक द्रव्यपरिवर्तन इस जीवने किए हैं।

— लोकाकाशके जितने प्रदेश हैं उतने सभी प्रदेशोंमें क्रमशः उत्पन्न होना और सूक्ष्मसे सूक्ष्म शरीरके प्रदेशोंसे लेकर मोटेसे मोटे शरीरके प्रदेशों-को क्रमशः पूरा करना 'क्षेत्र परिवर्तन' कहलाता है।

= अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल का जितना समय हो उसके सब समयों-में जन्म लेना और मरना 'काल परिवर्तन' कहलाता है।

मिथ्यात्वके आश्रय द्वारा जीवने नरककी कमसे कम आयु ग्रहण कर ऊपरके ग्रैवेयक पर्यंत अधिकतम आयु प्राप्त कर परिभ्रमण किया है।२८। *

जीवने मिथ्यात्वके वश होकर सभी प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बंधस्थानरूप भावसंसारमें बारम्बार भ्रमण किया है।२९। —

जो जीव पुत्र स्त्री आदिके निमित्तसे पाप बुद्धि पूर्वक धन कमाते हैं और दया तथा दान छोड़ते हैं वे संसारमें भटकते हैं।३०।

'यह मेरा पुत्र है, यह मेरी स्त्री है और ये मेरे धन धान्य हैं' ऐसी तीव्र कांक्षासे जो जीव धर्म बुद्धिको छोड़ता है वह बादमें दीर्घ ससारमें भ्रमण करता है।३१।

मिथ्यात्वके उदयसे जीव जिनोक्त धर्मकी निन्दा कर कुधर्म कुलिंग अर्थात् कुगुरु और कुतीर्थको मानकर संसारमें भटकता है।३२।

यह जीव अन्य जीव समूहको मारकर मधु और मॉसका सेवन कर, शराब पीकर, परद्रव्य और परस्त्रीको ग्रहण कर ससार में भटकता फिरता है।३३।

---

* नरककी न्यूनातिन्यून आयुसे लेकर ग्रैवेयक विमानके अधिकतम आयुके जितने भेद हैं उन सबका क्रमश भोग 'भव परिवर्तन' कहलाता है।

—कर्मबन्धके करनेवाले जितने प्रकारके भाव हैं उन सबके क्रमश अनुभवको भाव परिवर्तन कहते हैं।

मोहान्धकारके वशीभूत होकर जीव विषयोंके निमित्त से रात दिन पाप कार्यों में संलग्न रहता है और उनसे संसार परिभ्रमण करता है ।२४।

नित्य निगोद, इतर निगोद, धातु-पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकायकी प्रत्येककी ७—७ लाख योनि, [इन सब मिलकर ४२ लाख] वनस्पति कायकी दस लाख, विकलेन्द्रियकी अर्थात् द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय प्रत्येक की २—२ लाख [=छह लाख] देव, नारकी और तिर्यंचकी ४-४ लाख और पचेन्द्रिय मनुष्यकी चौदह लाख इस प्रकार सब मिलकर संसारी जीवकी ८४ लाख योनियाँ होती हैं ।२५।

इस संसारमें जितने भी प्राणी हैं उन सबके संयोग-वियोग, लाभ-हानि सुख-दुःख और मान-अपमान हुआ ही करते हैं ।२६।

जीव कर्मोंके निमित्तसे संसाररूप घोर वनमें भटका करते हैं किन्तु निश्चयनयसे (यथार्थरूपसे) आत्मा कर्मोंसे विमुक्त है और उसके संसार भी नहीं है ।२७।

संसारसे मुक्त जीव उपादेय हैं—और संसारके दुःखोंसे पीड़ित जीव हेय, त्याज्य हैं ऐसा विशेषरूपसे चिंतन करना चाहिये ।२८।

लोक भावना

जीवादि पदार्थोंके समूहको लोक कहते हैं और वह लोक अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्व लोकके रूपमें तीन प्रकारका है ।२९।

नरक अधोलोकमें हैं, असख्यात द्वीप तथा समुद्र मध्यलोकमें हैं और स्वर्गके ६३ विमान ६३ प्रकारके स्वर्गके भेद और मोक्ष ऊर्ध्वलोकमें हैं ।४०।

स्वर्गोंके विमानोकी सख्या इसप्रकार हैं—सौधर्म ईशान स्वर्गके ३१, सनत्कुमार-माहेन्द्रके ७, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तरके ४, लान्तव कापिष्टके २, शुक्र महाशुक्रके १, शतार महस्रारके १, आनत प्राणत, आरण और अच्युतके ६, अधो-मध्य ऊर्ध्व ग्रैवेयकके ६, नव अनुदिशका १, और पाँच अनुत्तरका १ इसप्रकार सर्व मिलकर—६३ विमान हैं ।४१।

जीव अशुभभावसे नरक और तिर्यंच गति पाते हैं और शुभ उपयोग से देव तथा मनुष्य गति प्राप्त करते हैं और शुद्ध भावसे मोक्ष प्राप्त करते हैं। इसप्रकार लोक भावनाका चिंतवन करना चाहिए ।४२।

अशुचि भावना

हड्डियोंसे जुडा हुआ, माँससे विलिप्त, चमड़ीसे ढ़का हुआ, और कृमियोंके समूहसे भरपूर ऐसा यह शरीर सदाकाल मलिन रहता है ।४३।

यह शरीर, दुर्गन्धमय, वीभत्स, खराब, मैलसे भूरपूर, अचेतन, मूर्तिक (रूप, रस, गंध स्पर्शवाला) और स्खलन-पतन स्वभावी है, ऐसा निरन्तर चिंतन करना चाहिए ।४४।

शरीर रस, रुधिर, माँस, मेद, मज्जासे व्याप्त है, उसमें

मूत्र, पीव और कृमियोंकी अधिकता है, यह दुर्गंधमय, अपवित्र, चर्मयुक्त अनित्य अचेतन और नाशवान है ।४५।

आत्मा देहसे भिन्न, कर्म रहित, अनन्त सुखका धाम है और शुद्ध है ऐसी भावना हमेशा करनी चाहिए ।४६।

आस्रव भावना

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग आस्रव हैं और जिन शासनमें उनके क्रमशः पाँच, पाँच, चार और तीन भेद अच्छी तरह कहे गए हैं ।४७।

मिथ्यात्वके एकान्त विनय, विपरीत, संशय और अज्ञान ये पाँच भेद हैं और अविरतिके हिंसादि ये पाँच भेद नियमसे हैं ।४८।

क्रोध, मान, माया और लोभ ये भी चार कषायके भेद हैं तथा मन, वचन और काय ये तीन योगके भेद हैं ।४९।

प्रत्येक योग अशुभ और शुभ ऐसे भेद द्वारा दो दो प्रकारके हैं उनमें आहार, भय, मैथुन और परिग्रह ये चार प्रकारकी संज्ञा अशुभ मन है ।५०।

कृष्ण, नील और कापोत नामक ३ लेश्यायें, इन्द्रियजन्य सुखों-में लोलुप परिणाम, ईर्ष्या तथा विषादभाव इसे श्री जिनभगवान अशुभ मन कहते हैं ।५१।

राग, द्वेष, मोह और हास्य, रति अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद नपुंसक वेद-मोहपरिणामरूप स्थूल या सूक्ष्म परिणामों-को श्री जिनभगवानने अशुभ मन कहा है ।५२।

भोजन कथा, स्त्री कथा, राज कथा और चोर कथाको अशुभ वचन समझना चाहिए, बंधन, छेदन, ताडनकी क्रियाको अशुभ काम जानना । ५३ ।

पूर्वोक्त अशुभ भावों और समस्त द्रव्योंको छोडकर जो व्रत, समिति, शील, संयमरूप परिणाम होते हैं उनको शुभ मन समझना । ५४ ।

ससार नाशके कारणरूप वचनको जिनेन्द्रभगवानने शुभ वचन कहा है और जिन देवादिकी पूजारूप श्रेष्टाको शुभ काय कहा है । ५५ ।

बहु दोपरूप तरंगोंसे युक्त, दु खरूप जलचरोंसे व्याप्त जन्म-रूप इस संसार समुद्रमें जीवका परिभ्रमण कर्मके आस्रवके कारण होता है । ५६ ।

जीव इस घोर ससारसागरमें कर्मोंके आस्रवसे डूबता है, ज्ञानवश जो क्रिया है वह परम्परा मोक्षका कारण है । ५७ ।

जीव आस्रवके कारण ससारसमुद्रमें शीघ्र डूबता है इसलिए आस्रवक्रिया मोक्षका कारण नहीं है ऐसा विचारना चाहिए । ५८ ।

आस्रव क्रियासे परम्परासे भी निर्वाण नहीं है इसलिए संसार गमनके कारणरूप आस्रवको निंद्य जानो ।५९।

आस्रवके पूर्वोक्त भेद निश्चयनयसे जीवके नहीं हैं इसलिए द्रव्य और भावरूप दोनों प्रकारके आस्रवसे रहित आत्माका चिंतवन हमेशा करना चाहिए । ६० ।

संवर भावना

चल, मलिन और अगाढ़ ऐसे तीन दोषोंको छोड़कर सम्यक्त्व स्वरूप दृढ़ क्रियाओंसे मिथ्यात्वरूप आस्रवके द्वारका निरोध होता है ऐसा श्री जिनेन्द्रभगवानने कहा है। ६१।

पाँच महाव्रतरूप परिणामोंसे अविरमणका निरोध नियमसे होता है और क्रोधादि आस्रवोंका द्वार कषाय रहितपनेके बलसे बन्द जाता है। ६२।

शुभयोगकी प्रवृत्तियाँ अशुभयोगका संवर करती हैं और शुद्धोपयोगसे शुभयोगका निरोध होता है। ६३।

शुद्धोपयोगसे जीवको धर्मध्यान होता है इसलिए संवरका कारण ध्यान है ऐसा हमेशा चिंतवन करना चाहिए। ६४।

परमार्थनयसे (वस्तुतः) जीवमें संवर ही नहीं है इसलिए संवरके विकल्प रहित आत्माका शुद्ध भावपूर्वक निरन्तर चिंतवन करना चाहिए। ६५।

निर्जरा भावना

बंध प्रदेशोंका गलन निर्जरा है ऐसा श्री जिनेन्द्रभगवानने कहा है जिनके द्वारा संवर होता है उन्हीके द्वारा निर्जरा भी होती है ऐसा समझना। ६६।

और यह निर्जरा दो प्रकारकी है एक तो स्वकाल पकने पर (उनके कालकी मर्यादा पूर्ण होने पर) और दूसरी तप द्वारा करने-

से होती है जिनमें पहली तो चारों गतिवाले जीवोंके और दूसरी व्रतियोंके होती है। ६७।

धर्म भावना

श्रावकका ग्यारहप्रकार प्रतिमारूप और मुनियोंका उत्तम क्षमादि दस प्रकारका धर्म सम्यक्त्व पूर्वक होता है ऐसा उत्तम आत्मिक सुखयुक्त श्री जिनभगवानने कहा है। ६८।

देशविरत श्रावककी ग्यारह प्रतिमाएँ ये हैं—दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रौषधोपवास, सचित्तत्याग, रात्रिभोजनत्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतित्याग और उद्दिष्टत्याग।६९।

मुनिधर्मके दशभेद ये हैं—उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, सयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य। ७०।

क्रोध उत्पन्न होनेके साक्षात् कारण मिलते हुए भी जो जरा भी क्रोध नहीं करता उसे उत्तम क्षमा धर्म होता है। ७१।

जो श्रमण कुल, रूप, जाति, बुद्धि, तप, शास्त्र, शील, ऋद्धि संबधी किंचित् भी अभिमान नहीं करता उसके मार्दव धम होता है। ७२।

जो श्रमण कुटिलभाव (माया) छोड़कर निर्मल हृदयसे चारित्रका पालन करता है उसके वस्तुत आर्जव धर्म होता है। ७३।

जो भिक्षु परसन्तापकारक वचन छोड़कर स्व और परके हित-कारक वचन कहता है उसके चौथा सत्यधर्म होता है।७४।

जो परम मुनि कांक्षाभाव–इच्छाकी निवृत्ति कर वैराग्य भावना-युक्त रहते हैं उनके शौचधर्म होता है। ७५।

निश्चय सम्यक्त्वके भाव सम्यक्प्रकारसे व्रत और समितिके पालनरूप, दंड त्यागरूप (अर्थात् मन वचन कायके योगके निरोध रूप और इन्द्रियोंको जीतरूपके जिसके परिणामहोते हैं उनके नियम से संयम धर्म होता है) । ७६ ।

जो विषय कषायका विशेष निग्रह भाव कर ध्यान और स्वाध्याय से आत्माका चिंतवन करे उसके नियमसे तप धर्म होता है । ७७ ।

सब द्रव्योंके प्रति मोह छोड़कर (संसार, देह-भोग प्रति)-उदासीनताको जो भाते हैं उसके त्याग धर्म होता है ऐसा जिनेन्द्र भगवानने कहा है । ७८ ।

जो मुनि निःसंग होकर सुख दुःख दायक अपने भावोंको रोक कर निर्द्वन्द्व होकर रहता है उसके आकिंचन्य धर्म होता है । ७९ ।

जो स्त्रियोंके सर्वांगोंको देखकर उस ओरके दुष्परिणाम करना छोड़ देता है वह सुकृति—धर्मात्मा दुद्धर ब्रह्मचर्य धर्म धारण करता है । ८० ।

श्रावक धर्मको छोड़कर जो जीव यतिधर्मकी साधना करता है वह मोक्षको छोड़ता नहीं किन्तु मोक्षकी प्राप्ति अवश्य करता है, इस प्रकार धर्म भावनाका हमेशा चिंतवन करना चाहिये । ८१ ।

जीवात्मा निश्चयनयसे श्रावकधर्म और मुनिधर्मसे भिन्न है इसलिए माध्यस्थ भावना द्वारा शुद्धात्माका नित्य चिंतवन करना चाहिए । ८२ ।

बोधि दुर्लभ भावना

जिस उपायसे सद्‌ज्ञान हो उस उपायका चिंतवन अत्यंत दुर्लभ बोधिभावना है। ८३।

क्षायोपशमिक ज्ञान वास्तवमें कर्मोदयजन्य पर्याय होनेसे हेय है, स्वक द्रव्य उपादेय है ऐसा निश्चय सद्‌ज्ञान है। ८४।

कर्मकी मिथ्यात्व आदि मूल प्रकृति व उत्तर प्रकृति असख्यात लोक परिमाणरूप हैं वे सब पर द्रव्य हैं; आतमा निश्चयनयसे निजद्रव्य है।

निश्चयनयसे कुछ हेय उपादेय नहीं है ऐसा ज्ञान प्रकट हो इसलिए मुनियोंको ससारसे विरक्त होनेके लिए बोधिभावनाका चिंतवन करना चाहिए।८६।

* * *

द्वादशानुप्रेक्षा प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण, आलोचना समाधि स्वरूप हैं इसलिए अनुप्रेक्षा करनी चाहिए। ८७।

यदि अपनी शक्ति हो तो प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, समाधि,सामायिक और आलोचना प्रतिदिन करनी चाहिए। ८८।

बारह अनुप्रेक्षाओंका सम्यक् प्रकार चिंतवन कर अनादि कालसे आज तक जो पुरुष मोक्ष गए हैं उनको बारम्बार प्रणाम करता हूँ। ८६।

अधिक कथनसे क्या ? इतना ही कहना बहुत है कि भूत-

कालमें जितने श्रेष्ठ पुरुष सिद्ध हुए हैं और भविष्यमें जो भव्य सिद्ध होंगे वह इन भावनाका माहात्म्य समझो। ९०।

इसप्रकार निश्चय और व्यवहार नयके अनुसार इन बारह भावनाओंका स्वरूप श्री कुन्दकुन्द मुनिनाथने कहा है। जो शुद्ध मन-से इन भावनाओंका चिंतवन करेंगे वे परम निर्वाणको प्राप्त करेंगे। ९१।

* श्री कुन्दकुन्दाचार्यकृत द्वादशानुप्रेक्षा समाप्त *

* श्री चिदानंद स्वरूपाय नमः *

* ॐ *

सामायिक पाठ

भाषानुवाद सहित

सिद्धवस्तु वचो भक्त्या, सिद्धान् प्रशमतः सदा ।
सिद्धकार्याः शिवं प्राप्ताः सिद्धिं ददतु नोऽव्ययाम् ॥१॥

अर्थ—श्री सिद्धपरमेष्ठी, जगतके सब पदार्थोंका यथार्थ स्वरूप कहनेवाले जैनागम और उस आगमके मूल प्ररूपक श्री अरहत भगवानको भक्ति पूर्वक नमस्कार कर और उसमें प्ररूपित सत्य मार्ग पर चल कर जिन आत्माओंने ससार दुःखको नष्ट करने-रूप कार्यको सिद्ध किये हैं ऐसे जीवनमुक्त अरहंत देव और मोक्ष प्राप्त सिद्ध परमेष्ठी मुझे भी अविनश्वर पद-सिद्धि प्राप्त करावें।

भावार्थ—जिन पुरुषोंने श्री अरहत और सिद्ध परमेष्ठीको अपना आदर्श मानकर और उनके दिखाए हुये मार्ग का अवलम्बन स्वीकार कर अरहत और सिद्धपद प्राप्त किया है वे महापुरुष मुझे भी अविनश्वर पदके मार्गपर आरूढ़ करें। १।

नमोऽस्तु धौतपापेभ्यः सिद्धेभ्यः ऋषिसंसदि ।
सामायिकं प्रपद्येऽहं, भवभ्रमणसूदनम् ॥ २ ॥

अर्थ—मैं समस्त कर्म कलंकको धो डालनेवाले श्री सिद्ध परमेष्टीको अत्यन्त भक्ति पूर्वक अपने मनोमंदिरमें विराजमान कर, महर्षि पुरुषोंके रहने योग्य कोलाहलादिसे रहित, शांत स्थानमें स्थित होकर संसार-दुःखका नाश करने वाले और परमानंद प्राप्त करानेवाले सामायिकको प्रारम्भ करता हूँ अर्थात् उसका कथन करता हूँ। २।

* साम्यं मे सर्व भूतेषु वैरं मम न केनचित् ।
× आशां सर्वां परित्यज्य + समाधिमहमाश्रये । ३ ।

अर्थ—ऐसी भावना करनी चाहिये कि सब जीव मात्रके साथ मेरा साम्यभाव है, किसीके साथ भी वैर नहीं है और समस्त

---

* मोक्षप्राप्तिका एकमात्र उपाय श्री अरहंत प्ररूपित रत्नत्रयका अवलम्बन ही है।

समता मुझे सब जीव प्रति, वैर न किसीके प्रति रहा।
मैं छोड़ आशा सर्वथ' धारता समाधि कर रहा ॥ १०४ ॥

(नियमसार)

× क्या इच्छत खोवत सबै, है इच्छा दुख मूल।
जब इच्छाका नाश तब मिटै अनादि भूल।

(श्रीमद् रायचन्द्र)

\+ निर्विघ्न रूपसे सम्यग्दर्शन आदिको दूसरे भवमें ले जाना समाधि है।

(वृहद् द्रव्यसंग्रह)

इच्छाओं—आशाओंको छोडकर मैं हमेशा आत्म ध्यानमें लीन होता हूँ। ३।

रागद्वेषान्ममत्वाद्वा, हा मया ये विराधिता।
क्षमंतु जंतवस्ते मे, तेभ्यः क्षमाम्यहं पुनः।४।

अर्थः—अनादि कालसे अब तक ससारमें घूमते हुए मैंने जिन जीवोंका रागद्वेष व मोह वश होकर घात किया है उन सबसे मेरी विनय पूर्वक प्रार्थना है कि वे मुझे क्षमा प्रदान करें। अनादि कालसे आज तक रही मेरी इस दुर्बुद्धिका मुझे अत्यत खेद है। इसके अतिरिक्त जिन जीवोंने मेरा कोई अपराध किया हो उन्हें भी मैं सरल हृदयसे क्षमा करता हूँ। ४।

मनसा वपुषा वाचा, कृतकारितसम्मतैः।
रत्नत्रयभवं दोषं गर्हे निंदामि वर्जये॥५॥

अर्थ—यह विचार करना चाहिए कि मन, वचन और काया-से कृत कारित और अनुमोदन द्वारा मेरे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-में जो दोष लगे हों उन सबकी मैं गर्हणा करता हूँ, निंदा करता हूँ और उन दोषोंका त्याग करता हूँ। ५।

तैरश्चं मानवं दैवमुपसर्गं सहेऽधुना।
कायाहारकषायादीन् संत्यजामि विशुद्धितः॥६॥

मैं इस समय तिर्यंच, मनुष्य और देव द्वारा किए हुए उपसर्ग-को शातिपूर्वक सहन करनेको तैयार हूँ। मैं शरीर, अन्य परि-

मद, आहार तथा क्रोधादि कषाय आदिको भी यथा शक्ति छोड़ता हूँ। ६।

रागं द्वेषं भयं शोकं, प्रहर्षौत्सुक्यदीनताः।
व्युत्सृजामि त्रिधा सर्वमरतिं रतिमेव च ॥७॥

अर्थ—मैं राग द्वेष, भय, शोक, हर्ष, उत्सुकता, दीनता, अरति, रति, आदि सबको मन, वचन और कायासे छोड़ता हूँ। ७।

जीवने मरणे लाभेऽलाभे योगे विपर्यये।
बन्धावरौ सुखे दुःखे, सर्वदा समता मम ॥८॥

अर्थ—जीवन मृत्युमें लाभ हानिमें, संयोग-वियोगमें, मित्र-शत्रुमें, सुख-दुःखमें मेरा सदा समभाव रहे—ऐसा चिंतवन करना चाहिए। ८। +

आत्मैव मे सदा ज्ञाने दर्शने चरणे तथा।
प्रत्याख्याने ममात्मैव, तथा संवरयोगयोः ॥९॥

अर्थ—सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन सम्यक्चारित्रमें सदा मेरा

+ निंदा-प्रशंसा, दुःख-सुख, अरि-बंधुमें जहां साम्य है।
जहां लोष्ट-कनके, जीवित-मरणे साम्य है, ते श्रमण है ॥२४१॥
(श्री प्रवचनसार)

आत्मा ही है तथा मेरा आत्मा ही प्रत्याख्यान, संवर और योगमें है। ९। —

एको मे शाश्वतश्चात्मा, ज्ञानदर्शनलक्षणः

ज्ञेपा वहिर्भवा भावाः, सर्वे संयोगलक्षणाः ॥१०॥

अर्थ—मेरा एक शाश्वत आत्मा ज्ञानदर्शन लक्षणवाला है शेप सब बाह्य भाव सयोग लक्षणवाले हैं। १०। *

७ भावार्थ.—ज्ञान दर्शनस्वरूप एक नित्य आत्मा ही वास्तवमें मेरी निधि है, वाकी संयोग लक्षणवाले क्रोध, मान, माया, लोभ, रागद्वेप आदि भाव तथा स्त्री, पुत्र, धन, धान्य आदि वाह्य पदार्थ मेरेसे भिन्न हैं उनके साथ मेरा कुछ भी सम्वन्ध नहीं है। १०।

— मम ज्ञानमें है आतमा, दर्शन चरितमें आतमा।
है और प्रत्याख्यान, संवर, योगमें भी आतमा ॥ १०० ॥
(नियमसार)

मुझ आत्मनिश्चय ज्ञान है मुझ आत्म दर्शन चरित है।
मुझ आत्म प्रत्याख्यान अरु मुझ आत्म सवर-योग है ॥ २७७ ॥
(समयसार)

* दृग्ज्ञान—लक्षित और शाश्वत मात्र—आत्मामय अरे।
अरु शेप सब सयोग लक्षित भाव मुझसे है परे ॥ १०२ ॥
(नियमसार)

संयोगमूला जीवेन, प्राप्ता दुःखपरम्परा ।
तस्मात्संयोगसंबंधं त्रिधा सर्वं त्यजाम्यहम् । ११ ।

अर्थ—मेरी आत्माने अनादिकालसे अब तक कर्मरूप संयोगों का आश्रय लेकर दुःखकी परम्परा प्राप्त की है इसलिये मैं अब मन-वचन-कायसे सर्व संयोग-सम्बन्ध छोड़ता हूँ।

इस प्रकार मनन-चिंतन द्वारा आत्मार्थीको हिताहितका विवेक करना चाहिए और आत्माको शुद्धोपयोगमें लीन करना चाहिये।

एवं सामायिकात्सम्यक्, सामायिकमखण्डितम् ।
वर्तते मुक्तिमानिन्या वशीभूतायते नमः । १२ ।

अर्थ—इस प्रकार सामायिक पाठमें वर्णित विधिके अनुसार जो परम अखंडित सामायिक करते हैं और जिन्होंने मुक्तिरूप स्त्रीको वशीभूत किया है अर्थात् मुक्ति प्राप्त की है उनको मेरा नमस्कार हो। १२।

हूँ एक शुद्ध सदा अरूपी, ज्ञानदर्शनमय खरे,
कई अन्य ते मारूँ नहीं परमाणु मात्र नहीं अरे। ३८।
(श्री समयसार)

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	लाइन	अशुद्धि	शुद्धि
४६	२२	अधीन	आधीन
५८	६	हो ऐसी	हो ऐसी
१०१	१६	भई	भाई
१०१	२२	परभावगाढ	परमावगाढ
१०५	३	भेक्षण	भक्षण
१०८	१६	छटती	छुटती
१२२	८	विन्छ	विन्छू
१२५	६	दसरा	दूसरा
१२७	१०	शास्त्रा	शास्त्रो
१४२	१०	हाती	होती
१४३	४	सख्या	सख्या
१४७	१५	धम	धर्म